

संस्थापक-सम्पादक
यशदेव शल्य

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

वर्ष 39, अंक 1
जनवरी-जून, 2025



वर्ष 39, अंक 1

जनवरी-जून, 2025

उज्ज्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

संस्थापक-सम्पादक
यशदेव शल्य

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्वलेव, बुद्धमार्ग, पटना-800001
2. अशोक वाजपेयी, सी-60, अनुपम को-ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्वलेव, दिल्ली-110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. अशोक वोहरा, सी-748, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018

संस्थापक-सम्पादक

यशदेव शल्य

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.-37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-293668 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल-462039, दूरभाष 0755-2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053

UNMEELAN(Refereed Journal)

वार्षिक शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 200 /-

संस्थाएं : रु. 500 /-

आजीवन शुल्क

व्यक्तिगत : रु. 5000 /-

संस्थाएं : रु. 10000 /-

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान-सम्पादक - उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें - अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003 (म.प्र.)

कमलनयन एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

1. परम्परा, आधुनिकता और मिथकीय चेतना का संकट 5
विश्वनाथ मिश्र, कुलदीप शर्मा
2. व्याकरणिक प्रविधि के रूप में अनेकान्तवाद 33
बलराम शुक्ल
3. श्रीअरविन्द की आर्षदृष्टि : वेदभाष्य एवं लोकभाष्य 63
प्रवीण पण्ड्या
4. प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे का पथिकृत वृतान्त 79
अम्बिकादत्त शर्मा
5. सत्ता की समझ 94
जी.आर. मलकानी प्रणीत ' अ स्टडी ऑफ रियलिटी का
अविकल हिन्दी रूपान्तरण
अनुवादक : अनिल कुमार तिवारी
- पुस्तक-समीक्षा
6. एक संवाद-आहोपुरुषिका का सभ्यता-विमर्श : 111
कविता एवं अनुवाद के साथ
प्रवीण पण्ड्या

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1. संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	—	मुकुंद लाठ	100.00
2. धर्म—संकट	—	मुकुंद लाठ	200.00
3. कर्म—चेतना के आयाम	—	मुकुंद लाठ	250.00
4. क्या है? क्या नहीं है?	—	मुकुंद लाठ	150.00
5. मूल्यतत्त्व—मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	—	यशदेव शल्य	200.00
6. चिद्धिमर्श	—	यशदेव शल्य	175.00
7. तत्त्व—चिन्तन	—	यशदेव शल्य	200.00
8. चित् की आत्म—गवेषणा	—	यशदेव शल्य	250.00
9. काव्य—विमर्श	—	यशदेव शल्य	250.00
10. मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन—धाराएं	—	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975

परम्परा, आधुनिकता और मिथकीय चेतना का संकट

विश्वनाथ मिश्र*, कुलदीप शर्मा**

आधुनिकता के इस दौर में मानवीय चेतना और मिथकीय ढाँचों के बीच के संबंध में गहरा परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तन से अर्थ-निर्माण की प्रणालियों, जीवन के सोद्देश्यतावादी ढाँचों और समग्र अस्तित्वबोध के प्रत्ययों के लिए वैधता, औचित्य एवं बोध का संकट पैदा हो गया है। मानव द्वारा निर्मित अवधारणात्मक आख्यानो के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य अन्य विशेषणों के साथ एक मिथक-निर्माण करने वाला प्राणी भी है और मनुष्य की यह विशेषता उसे दूसरे अन्य जीवों से उसे अत्यंत मौलिक रूप से पृथक् करती है। मिथक को अनेक दृष्टि से परिभाषित किया गया है। अनेक शब्द कोशों में जिस तरह से मिथक को परिभाषित किया गया है उसका सार यह है कि मिथक अतीत में बनी वे कहानियाँ हैं जो प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या अथवा धार्मिक मान्यताओं या सामाजिक प्रथाओं के औचित्य को प्रमाणित करने से संबंधित होती हैं। मिथक ऐसी कड़ियाँ होती हैं जो मनुष्य के चेतन और अचेतन, ज्ञात और अज्ञात, श्रेय और प्रेय, इहलोक और परलोक, शरीर और आत्मा, संस्कृति और प्रकृति की अनुसुलझी कड़ियों को जोड़ती हैं और जीवन तथा समाज को एक उद्देश्य प्रदान करती करती हैं। सामान्यतया मिथकीय मान्यताओं और उनके अनुपालन से उपजी परिणतियों के बीच कोई सीधा कार्य-कारण संबंध नहीं होता है और न ही मिथकों के निर्माण के पीछे वैसी कोई बौद्धिकता कार्य कर रही होती है जिसे आज की प्रचलित भाषा में हम वैज्ञानिक सोच या साइंटिफिक टेम्पर कह सकते हैं। किन्तु, दुनियाभर में अपने-अपने मिथकों को वैज्ञानिक कहने या साबित करने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। आधुनिक जीवन की तेज़ गति और इस तेज़ गति के परिणामस्वरूप जीवन जीने के पारंपरिक प्रत्याशाओं के विखंडन से उपजी नवीन परिस्थितियों ने मिथक निर्माण और उनके प्रसारण की पारंपरिक प्रक्रियाओं को बाधित कर

उन्मीलन - वर्ष 39, अंक 1, जनवरी-जून 2025

ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

दिया है। आज की दुनिया में सूचना का प्रवाह अत्यधिक तेज़ होने के कारण पुराने मिथकों और कहानियों के निर्माण और उनके संचार के तरीके को पूरी तरह से बदल कर रख दिया है। यह बदलाव न केवल संस्कृति पर प्रभाव डालता है, बल्कि हमारी पहचान और सामूहिक स्मृति, जीवन जीने के तरीकों, नई पीढ़ियों को संस्कारित करने की प्रणालियों और हमारी बौद्धिकता को भी प्रभावित करता है। पुरानी परम्पराएँ अब पहले जैसी नहीं रह गयी हैं और नए मिथकों का निर्माण नई परिस्थितियों और प्रौद्योगिकियों से प्रभावित हो रहा है। इस प्रकार, आधुनिक जीवन के तत्त्व मिथकों के स्वरूप को पुनः परिभाषित कर रहे हैं।

सूचना और आधुनिक युग के अनुरूप तर्कसंगत कही जाने वाली ढाँचों तक अभूतपूर्व पहुँच और इन सबके बीच नए प्रकार के मिथकों के अस्तित्व में आ जाने के बावजूद आज भी अनेकों पुराने मिथकों को लेकर दुनियाभर में मरने-मारने को उद्धत जन-समुदायों के विपुल उदाहरण मिल जाते हैं। यह प्राचीन एवं नवीन मिथकों को लेकर मनुष्य की एक ऐसी स्थिति का चित्रण करते हैं जिसमें मनुष्य अक्सर अस्तित्वगत चुनौतियों और कभी-कभी अनुभवगत चुनौतियों का सामना करने में खुद को असहाय महसूस करता है और उनकी बौद्धिकता कटघरे में खड़े हो जाती है। यहाँ, उक्त तथ्य को एक-दो उदाहरणों के माध्यम से समझकर आगे बढ़ना समीचीन प्रतीत होता है। सभी समुदायों में किसी न किसी रूप में यह मिथकीय मान्यता होती है कि परमपिता परमेश्वर एक ही है जो इस सृष्टि का रचयिता है। किन्तु सभी समुदायों में एक दुसरे के ईश्वर को और उससे जुड़ी मान्यताओं और प्रतीकों को नष्ट-भ्रष्ट कर देने के प्रयत्नों और युक्तियों तथा इससे जुड़े मिथकों को भी देखा जा सकता है। वह भी ऐसी स्थिति में जब विज्ञान की अनेक खोजों ने पुरातन समय में ईश्वरीय कही जाने वाली रहस्यों के आवरण से पर्दा उठाकर उन्हें भौतिक तथ्य पर आधारित कार्य-कारण संबंध से समझी जा सकने वाली ज्ञान का विषय बना दिया है।

जीवन के जिन पक्षों को पारंपरिक रूप से मिथकीय समझ और आस्था के माध्यम से समझा और संभाला जाता था, उन्हें आज की दुनिया में उपलब्ध जानकारी के विशाल भंडार और भौतिक रूप से सत्यापनीय निर्भरयोग्य ज्ञान के भूख ने इस तरह से छिन्न-भिन्न कर दिया है, जिससे हम समग्र जीवन के गहरे अर्थ और उद्देश्य की खोज में भ्रमित ही नहीं हो रहे हैं, बल्कि उलझते भी जा रहे हैं। मिथकों ने हमें जीवन के कठिन सवालों का

उत्तर देने में मदद की थी, लेकिन अब यह ज्ञान और अनुभव का अभाव हमें मानसिक और भावनात्मक रूप से कमजोर बना रहा है। यह स्थिति हमारे अस्तित्व के अर्थ को खोजने की जटिलता को बढ़ा देती है। यहाँ स्वामी विवेकानंद के एक कथन का सन्दर्भ देते हुए अपनी बात को अधिक सटीक तरीके से कहा जा सकता है। स्वामी विवेकानंद ने लिखा है कि हिन्दुओं का पराभव तब से आरम्भ हुआ जबसे वे अपने अध्यात्मिक मिथकों के भौतिक सत्यापन की प्रवृत्तियों में संलग्न हो गए।' विवेकानंद के इस कथन के निहितार्थ को और इसके गूढ़ार्थ को समझना आवश्यक है। हमारे ऋषि मुनियों ने अनेक सामाजिक और आज के संदर्भों में नृजातीय कही जा सकने वाली संघर्षों को जातीय पृष्ठभूमि से अलग करके उन्हें सत् और असत् प्रवृत्तियों के मध्य संघर्ष के रूप में प्रस्तुत करके उनमें निहित जातीय विद्वेष के तत्त्वों को निर्मूल कर दिया और सामाजिक संघर्षों की कथाओं से ऐसे मिथक तैयार किये जिनसे एकता और जीवन के प्रति सत् उद्देश्यों का एक पुरुषार्थ चतुष्टय एवं ऋणों से मुक्ति की धारणा से समावेशित जीवन का सूत्र विकसित किया। किन्तु जब आधुनिकता और विज्ञानवाद के प्रभाव में आकर उन आध्यात्मिक मिथकों की हिन्दुओं ने भौतिक रूप से सत्यापनीय व्याख्याओं का संबल लेना आरम्भ किया तब से हिन्दुओं की एकता ही नहीं नष्ट हुई बल्कि जीवन मूल्यों का भी क्षरण हुआ और इसने हिन्दुओं के पराभव के अनेक समीकरणों को जन्म लेने की प्रेरणा दी।

ऐतिहासिक विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मिथक केवल कहानियाँ नहीं, बल्कि मानव अनुभव को समझने के लिए, विशेषकर विजय और पराजय, सुख और दुःख, समृद्धि और गरीबी के संदर्भ में और ज्ञात तथा अज्ञात के बीच संयोजन के व्यापक ढाँचे के रूप में कार्य करते थे। ये मिथकीय ढाँचे ऐसे आवश्यक वैचारिक उपकरण प्रदान करते थे, जिन्हें मार्क्स और बेंजामिन ने मानव-समझ के लिए महत्वपूर्ण माना। हालाँकि, समय-समय पर पारंपरिक मिथकीय ढाँचों को विस्थापित करके उनके स्थान पर नये मिथकों का निर्माण किया जाता है। वर्तमान दौर में बनाये जा रहे नए मिथकों के निर्माण के प्रयास मुख्यतः जीवन के अर्थ में वही गहराई और समर्थन प्रदान करने में विफल रहे हैं। इस तरह, आधुनिकता ने हमें सूचनाओं की प्रचुरता तो दी है, लेकिन साथ ही हमारी आंतरिकता और अस्तित्व के सवाल को समझने की क्षमता को कमजोर कर दिया है।

1. मिथकों की आवश्यकता और इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण अध्ययन

इस अध्ययन का महत्त्व तीन घटनाओं की पड़ताल के माध्यम से समझा जा सकता है। पहला, आधुनिकता में समय के अनुभव का संकुचन सामूहिक चेतना में मिथकों के निर्माण और उनके बने रहने के तरीके को मौलिक रूप से बदल दिया है। ऐसी घटनाएँ जो पहले सदियों में घटित होती थीं, अब वर्षों या यहाँ तक कि महीनों में घट जाती हैं, जिससे संभावित मिथकीय सामग्री में तेजी से बदलाव होता है। इस कारण मिथकों की विचार प्रणालियों को स्थायी मिथकीय संरचनाओं में ढलने में समस्या होती है। दूसरा, आधुनिक मिथक निर्माण के प्रयास पारंपरिक मिथकों से गुणात्मक रूप से भिन्न विशेषताएँ प्रदर्शित करते हैं। ये नई संरचनाएँ जिनमें अक्सर अपने पारंपरिक समकक्षों की गहराई और अनुनाद की कमी होती है, जिससे एक उथली सी मिथकीय चेतना उत्पन्न होती है, जो पर्याप्त अस्तित्वगत संबल प्रदान करने में असफल रहती है। तीसरा, जब आधुनिक निर्माण खोखले साबित होते हैं, तो पारंपरिक मिथकों की लगातार वापसी यह संकेत देती है कि समकालीन चेतना में तार्किक समझ और मिथकीय अर्थ-निर्माण के बीच एक अनसुलझा तनाव मौजूद है।

हमारे विश्लेषण का प्रारंभिक बिंदु मार्क्स की उस मान्यता में है, जिसे वॉल्टर बेंजामिन के माध्यम से विस्तार दिया गया है, वह यह कि मनुष्य अवधारणाएँ बनाने वाला प्राणी है। मार्क्स का भौतिकवादी इतिहास का दृष्टिकोण जो मुख्य रूप से आर्थिक और सामाजिक संबंधों पर केंद्रित है, वह उस वास्तविकता को समझने के लिए अवधारणात्मक ढाँचे बनाने की मौलिक मानव आवश्यकता को मान्यता देता है। बेंजामिन ने अपनी थीसिस 'ऑन द फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री' में इस अंतर्दृष्टि का विस्तार किया है, जो यह समझने में महत्त्वपूर्ण है कि ऐतिहासिक चेतना किस प्रकार मिथकीय सोच के साथ अंतर्संबंधित होती है।¹ उनकी संयुक्त अंतर्दृष्टि से पता चलता है कि मिथक-निर्माण केवल मानव विकास का एक आदिम चरण नहीं है, बल्कि मानव चेतना का एक अनिवार्य पहलू है; जो कथित रूप से तर्कसंगत समाजों में भी बना रहता है।

कार्ल जंग का सामूहिक अचेतन का सिद्धांत पारंपरिक मिथकों की निरंतर शक्ति को समझने के लिए एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करता है।¹ जंग का दावा है कि मानवता में आदर्शवादी छवियों और प्रतिमानों का एक गहरा भंडार है, जो यह समझने में मदद करता है कि पारंपरिक मिथक

अत्यधिक तर्कसंगत रूप में, आधुनिक संदर्भों में भी, अपनी प्रतिध्वनि क्यों बनाए रखते हैं। मनोवैज्ञानिक अनुभव के सार्वभौमिक पैटर्न के रूप में आदर्शों की उनकी अवधारणा इस बात की अंतर्दृष्टि प्रदान करती है कि आधुनिक मिथक—निर्माण के प्रयास अक्सर पारंपरिक मिथकों के समान मनोवैज्ञानिक गहराई हासिल करने में विफल क्यों होते हैं।

जोसेफ कैपबेल की तुलनात्मक मिथकियता, विशेष रूप से मोनोमिथ की उनकी अवधारणा, पारंपरिक मिथकीय प्रणालियों की अंतर्निहित संरचनात्मक एकता को प्रदर्शित करती है। कैपबेल के हवाले से पता चलता है कि पारंपरिक मिथक किस तरह अर्थ—निर्माण की पूर्ण प्रणालियों के रूप में कार्य करते हैं, जो मानव अनुभव के व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों आयामों को संबोधित करते हैं।¹ उनका विश्लेषण यह स्पष्ट करने में मदद करता है कि आधुनिक मिथक निर्माण के प्रयास अक्सर व्यक्तिगत अनुभव को सामूहिक अर्थ—संरचनाओं के साथ एकीकृत करने में असफल क्यों होते हैं।

पवित्र और अपवित्र समय के बीच संबंधों के बारे में मिस्रिया एलियाड का विश्लेषण इस संदर्भ में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। वह यह कि आधुनिक लौकिक संपीड़न पौराणिक चेतना को कैसे प्रभावित करता है। उनका काम दर्शाता है कि कैसे पारंपरिक मिथकों ने समय के सार्थक पैटर्न बनाए जो व्यक्तिगत अनुभव को बड़े ब्रह्मांडीय आख्यानों में एकीकृत करने की अनुमति देते हैं — एक ऐसा कार्य था जिसे आधुनिक लौकिक संरचनाएँ पूरा करने के लिए संघर्ष करती रही हैं और आज भी कर रही हैं।¹

मैक्स होर्कह्युमर और थियोडोर एडोर्नो अपने “डायलेक्टिक ऑफ़ एनलाइटनमेंट” में आधुनिकता के मिथक से संबंधों की एक मौलिक आलोचना प्रस्तुत करते हैं, जहाँ वे तर्क देते हैं कि तर्कसंगतता के माध्यम से मिथक को दूर करने के ज्ञानोदय के प्रयास ने विरोधाभासी रूप से रहस्यवाद के नए रूपों को जन्म दिया है। इससे आधुनिक मनुष्य तकनीकी प्रगति के बावजूद (या शायद उसके कारण) तेजी से अलग—थलग और असाहाय होते जा रहे हैं।¹ उनका विश्लेषण आधुनिक संदर्भों में पारंपरिक मिथकों की लगातार वापसी, साथ ही मानवीय अर्थ—निर्माण की आवश्यकताओं को पूरा करने में विशुद्ध रूप से तर्कसंगत ढाँचों की विफलता को समझने में मदद करता है।

इस संदर्भ में रोलांड बार्थेस का कार्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि समकालीन समाज किस तरह से मिथकों को उत्पन्न करता है और उनका उपभोग भी करता है। उनके विश्लेषण से पता चलता है कि आधुनिक मिथक पारंपरिक मिथकों से संरचनात्मक और कार्यात्मक रूप से कैसे भिन्न हैं, जो अक्सर गहरे अस्तित्वगत अर्थ प्रदान करने के बजाय वर्तमान सामाजिक स्थितियों को स्वाभाविक बनाने का काम करते हैं।⁷

2. पारंपरिक मिथकों की प्रकृति

पारंपरिक मिथक केवल कहानियाँ या प्राकृतिक घटनाओं को समझाने के लिए प्राचीन प्रयास नहीं हैं, बल्कि वे अर्थ के व्यापक तंत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं; जो मानव चेतना और सामाजिक संगठन के पूरे इतिहास को आकार देते हैं। यह मिथकीय ढाँचे ऐसी मौलिक संरचनाएँ रही हैं, जिनके माध्यम से मानव ने अपनी पहचान को समझा, अज्ञेय को समझने का प्रयास किया, और पीढ़ियों के बीच सांस्कृतिक ज्ञान का आदान-प्रदान किया।

पारंपरिक मिथकों के संरचनात्मक तत्त्व, जैसे आख्यान, प्रतीक और अर्थ आपस में गहरे जटिल संबंधों में जुड़े होते हैं। इनका मूल आधार लेवी-स्ट्रॉस द्वारा पहचाने गए द्वैत विरोध (बाइनरी अपोजिशन) हैं, जैसे जीवन और मृत्यु, व्यवस्था और अराजकता, पवित्र और अपवित्र, जो मानव अनुभव को समझने और उसे एक व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने में सहायक होते हैं।⁸ इन मिथकों के माध्यम से हम मानवता के जटिल पहलुओं को सरल और स्पष्ट रूप से समझने का प्रयास करते हैं। ये पैटर्न कोई मनमाना निर्माण नहीं होते, बल्कि वे गहरी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकताओं को दर्शाते हैं, जो मानवीय अनुभव के गहन विवरण (thick descriptions) को आकार देते हैं। ये विवरण व्यक्तिगत और सामूहिक अस्तित्व को समझने, उसे सही ठहराने और उसे अर्थ प्रदान करने का कार्य करते हैं, जिससे लोग अपनी स्थिति और दुनिया में अपने स्थान को बेहतर ढंग से समझ पाते हैं।

पारंपरिक मिथकों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव उनके सतही आख्यानो से कहीं अधिक गहरा होता है। जैसे कि कार्ल जंग ने अपने आर्कटाइपल पैटर्न (Archetypal Patterns) के विश्लेषण के माध्यम से बताया है कि वैसे मिथक मानव चेतना की गहरी और मूलभूत संरचनाओं में समाहित होते हैं। वे न केवल व्यक्तिगत, बल्कि सामूहिक अनुभवों को समझने के लिए एक रूपरेखा प्रदान करते हैं; जो मानव मानस के भीतर स्थित प्राचीन और

सार्वभौमिक छवियों और प्रतीकों को उजागर करते हैं। इस प्रकार, मिथक मानव मानसिकता और सामाजिक संरचनाओं के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को प्रकट करने का एक शक्तिशाली उपकरण बनते हैं।⁹ पारंपरिक मिथक अपनी आख्यानात्मक संरचनाओं के माध्यम से वही प्रदान करते हैं, जो जोसेफ कैंपबेल द्वारा प्रस्तुत किया गया है कि हर मिथक मानसिक रूप से प्रतीकात्मक होता है। इसके आख्यान और चित्रों को इसलिए शाब्दिक रूप से नहीं, बल्कि रूपकों के रूप में पढ़ा जाना चाहिए।¹⁰ इस दृष्टिकोण से, मिथक व्यक्तियों को अस्तित्व के बड़े और सार्थक पैटर्न में अपने व्यक्तिगत संघर्षों और विजयों को पहचानने का अवसर प्रदान करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक प्रतिध्वनि (साइक्लोजिकल रेजोनेंस) इस बात को स्पष्ट करती है कि पारंपरिक मिथक अपनी मूल सांस्कृतिक संदर्भों से भले ही दूर हों, फिर भी वे अपनी शक्ति और प्रभाव को बनाए रखते हैं, क्योंकि वे मानव अनुभव की गहरी और सार्वभौमिक सच्चाइयों को व्यक्त करते हैं।

परंपरागत मिथकों के कालिक आयाम पर विशेष ध्यान देने से उनके अर्थ-निर्माण की क्षमता का एक महत्त्वपूर्ण पहलू उजागर होता है। आधुनिक ऐतिहासिक चेतना, जो समय को एकरेखीय प्रगति के रूप में देखती है, के विपरीत परंपरागत मिथक उस “पवित्र समय” (सेक्रेड टाइम) के भीतर कार्य करते हैं, जिसे एलियाड ने परिभाषित किया है। यह पवित्र समय एक चक्रीय, शाश्वत रूप से पुनरावृत्त ढाँचे के रूप में होता है, जो अर्थ के निरंतर नवीनीकरण की प्रक्रिया को सक्षम बनाता है। इस कालिक संरचना के कारण ही मिथक पीढ़ियों के बीच अपनी प्रासंगिकता बनाए रखने में सक्षम होते हैं और साथ ही मानव अनुभव को समझने के लिए एक स्थिर और निरंतर संदर्भ बिंदु प्रदान करते हैं।¹¹ इस प्रकार, परंपरागत मिथक समय की मानक अवधारणा और सीमा से परे जाकर, एक ऐसे सार्वभौमिक और शाश्वत संदर्भ में काम करते हैं जो मनुष्य की आंतरिक और सांस्कृतिक यात्रा को संरेखित करता है।

परंपरागत मिथक सामाजिक क्रियाओं के एक महत्त्वपूर्ण स्रोत होते हैं, जो मानवविज्ञानी विक्टर टर्नर द्वारा वर्णित “*communitas*”—अर्थात् साझा अनुभव और समझ का निर्माण करते हैं, जो समुदायों को एकजुट करता है।¹² अनुष्ठानात्मक प्रदर्शन और मौखिक प्रसारण के माध्यम से इन मिथकों ने ऐतिहासिक रूप से समाजों को उनके उद्भव, उद्देश्य और नियति को समझने के लिए एक सामान्य ढाँचा प्रदान किया है। इस प्रकार, ये

मिथक केवल सांस्कृतिक इतिहास के नहीं, बल्कि सामाजिक संरचनाओं के भी अभिन्न अंग होते हैं। यह सामाजिक आयाम यह समझने में मदद करता है कि आधुनिकता में पारंपरिक मिथकात्मक ढाँचों के क्षय ने सामूहिक पहचान और सामाजिक सामंजस्य पर कितने गहरे प्रभाव डाले हैं।

जब ये मिथक कमजोर पड़ते हैं, तो समुदायों की एकता और सहानुभूति में कमी आ सकती है, जिससे सामाजिक ढाँचे में दरारें पैदा होती हैं। इसलिए, पारंपरिक मिथक केवल सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखने में मदद नहीं करते, बल्कि वे एक मजबूत सामाजिक ताना-बाना तैयार करते हैं, जो व्यक्तियों को साझे पहचान और उद्देश्य में जोड़ता है। इन मिथकों के माध्यम से समुदाय अपने सामूहिक अनुभवों को साझा करता है, जिससे उसे अपनी जड़ों और भविष्य के लिए दिशा मिलती है। जब यह मिथकीय ढाँचा टूटता है, तो सामूहिक चेतना में एक खालीपन और विखंडन उत्पन्न होता है, जो सामाजिक संरचनाओं में अस्थिरता का कारण बनता है।

पारंपरिक मिथक भावनात्मक विनियमन को सुगम बनाने के कई तंत्रों के माध्यम से काम करते हैं। सबसे पहले, ये मिथक सांस्कृतिक रूप से स्वीकृत ढाँचे के भीतर जटिल भावनात्मक अनुभवों (जैसे दुःख, सुख, प्यार, और हानि) को समझने और संसाधित करने के लिए स्थापित पैटर्न प्रदान करते हैं। ये पैटर्न व्यक्तियों को भावनाओं के जटिल जाल में रास्ता दिखाते हैं और समाज के मान्यता प्राप्त तरीके से उन्हें व्यक्त करने का मार्ग खोलते हैं। दूसरा, ये मिथक "आख्यानोत्पत्ति" (नैरेटिव आइडेंटिटी) के रूप में कार्य करते हैं, जैसा कि मनोवैज्ञानिक डैन मैकेएडम्स ने पहचाना है।¹³ परम्परागत मिथक जीवन की कठिनाइयों और संकटों के दौरान एक कथा-रचना का कार्य करते हैं, जिससे व्यक्ति अपने अनुभवों को एक सुसंगत और अर्थपूर्ण ढाँचे में ढाल पाता है। यह उन्हें अपने जीवन के विभिन्न संक्रमणों, जैसे आयु बढ़ने, रिश्तों में बदलाव या व्यक्तिगत संकट को समझने और उनसे निपटने में मदद करता है। तीसरा, ये मिथक ब्रोनोस्लाव मालिनोव्स्की द्वारा वर्णित चार्टर मिथक के रूप में काम करते हैं, जो समाजों और संस्कृतियों की संस्थाओं और प्रथाओं को वैधता प्रदान करते हैं।¹⁴ इन मिथकों का उद्देश्य समाज के संरचनात्मक पहलुओं को स्थायित्व और संरक्षण प्रदान करना है, विशेष रूप से अनिश्चितता और संकट के समय में। यह समाज के सदस्यों को भावनात्मक सुरक्षा का अनुभव कराता है, क्योंकि

ये मिथक उन्हें आश्वस्त करते हैं कि उनका अनुभव और संघर्ष एक बड़े, अधिक स्थिर और समझे जाने योग्य संदर्भ में स्थित हैं। इस प्रकार, पारंपरिक मिथक न केवल सांस्कृतिक और सामाजिक संदर्भ में बल्कि व्यक्तिगत स्तर पर भी भावनात्मक संतुलन और मानसिक सुरक्षा प्रदान करते हैं, जिससे लोग अपने जीवन के जटिल पहलुओं को अर्थपूर्ण और सहनशील तरीके से समझने में सक्षम होते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि पारंपरिक मिथकों ने ऐतिहासिक रूप से अस्तित्व संबंधी सहायता प्रणालियों के रूप में काम किया है, जो दार्शनिक पॉल रिकोयर द्वारा मानव अस्तित्व के सीमा-अनुभव कहे जाने वाले प्रश्नों के उत्तर प्रदान करते हैं, जैसे उत्पत्ति, उद्देश्य, पीड़ा और मृत्यु के बारे में प्रश्न इत्यादि।¹⁵ समाजशास्त्री पीटर बर्गर ने इन ढाँचों को संभाव्यता संरचनाएँ (Plausibility Structures) कहा है, जो दुनिया को समझने योग्य और प्रबंधनीय बनाते हैं, भले ही यह अंतर्निहित अनिश्चितता और अराजकता से भरी हुई हो। इन संरचनाओं के माध्यम से मिथक समाज को एक स्थिर दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, जो व्यक्तियों को अपनी परिस्थितियों और अस्तित्व के बारे में समझने और उनका सामना करने में मदद करता है।¹⁶ इसके अलावा, पारंपरिक मिथक सामूहिक और व्यक्तिगत अनुभवों के एकीकरण के माध्यम से दार्शनिक कार्ल जैस्पर्स द्वारा वर्णित पारलौकिकता की अवधारणा (Transcendence) की पेशकश करते हैं। यह अवधारणा जीवन के व्यावहारिक और अस्तित्वगत दोनों आयामों में व्यक्ति को अभिविन्यास प्रदान करती है, जिससे वह न केवल अपने जीवन के उद्देश्य को समझता है, बल्कि अपनी आंतरिक और बाहरी दुनिया के साथ सामंजस्य भी स्थापित करता है।¹⁷ इस प्रकार, पारंपरिक मिथक न केवल अस्तित्व के जटिल सवालों का उत्तर देने के लिए एक ढाँचा तैयार करते हैं, बल्कि वे व्यक्तिगत और सामूहिक स्तर पर जीवन के अर्थ, उद्देश्य और पीड़ा के अनुभव को स्वीकार करने के लिए एक स्थिर और संरचित दृष्टिकोण प्रदान करते हैं।

पारंपरिक मिथकों का प्रसारण ऐतिहासिक रूप से उस पर निर्भर रहा है जिसे वाल्टर ओंग ने प्राथमिक मौखिकता (Primary Orality) कहा है; जो एक विशिष्ट सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में व्यक्ति से व्यक्ति तक, आमने-सामने होने वाला संचार है।¹⁸ इस प्रकार के मौखिक प्रसारण ने

मिथकों को एक जीवित और अनुकूलनशील रूप में बनाए रखने की अनुमति दी। यह तंत्र मिथकों को बदलती परिस्थितियों के अनुसार ढालने और उनके अर्थ को समय और स्थान के अनुसार नया रूप देने में सक्षम था, जिससे ये जीवित परंपराएँ (Living Traditions) बन गईं। इन परंपराओं ने अपने आवश्यक अर्थ-निर्माण कार्यों को बनाए रखते हुए समय के साथ विकसित होने की क्षमता पाई। मिथकों के मौखिक प्रसारण का यह रूप न केवल उनकी स्थिरता और निरंतरता सुनिश्चित करता था, बल्कि यह उन्हें सामूहिक और व्यक्तिगत अनुभवों के साथ तादात्म्य बनाए रखने का अवसर भी प्रदान करता था। इस प्रक्रिया के माध्यम से मिथक अपनी सांस्कृतिक प्रासंगिकता और सामाजिक उद्देश्य को सजीव रखते थे, क्योंकि वे पीढ़ी दर पीढ़ी व्यक्तिगत अनुभवों से गुजरते हुए निरंतर अपने नए अर्थ ग्रहण करते थे।

हालाँकि, जब प्रसारण के माध्यमों में बदलाव आया, जैसे कि लेखन और बाद में इलेक्ट्रॉनिक रूपों का उदय हुआ तो यह मिथकों के संचालन और प्रभाव को गहरे रूप से प्रभावित करने वाला एक मोड़ साबित हुआ। लेखन और इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के माध्यम से मिथकों का प्रसारण एक नए रूप में हुआ, जो अधिक स्थिर, प्रलेखित और संग्रहित था। हालाँकि, इस बदलाव ने आधुनिकता में पौराणिक चेतना के संकट को भी जन्म दिया, जिस पर हम बाद के खंडों में अधिक विस्तार से चर्चा करेंगे। मिथकों की पारंपरिक मौखिक जीवंतता का लोप और आधुनिक संदर्भों में उनके पुनः प्रसंस्करण के बीच एक बड़ी असंगति उभरने लगी, जिससे पारंपरिक मिथकों का प्रभाव और उनका अर्थ-निर्माण कार्य बदलने लगा।

3. मिथकीय चेतना का आधुनिक रूपांतरण

आधुनिकता में मिथकीय चेतना का रूपांतरण मानव के अर्थ-निर्माण की क्षमता में एक गहरा, लेकिन कम चर्चा किया गया बदलाव लाया है। यह परिवर्तन न केवल पारंपरिक मिथकों के अवसान से जुड़ा है, बल्कि यह भी दर्शाता है कि मनुष्य अपने अस्तित्व के बारे में अर्थपूर्ण कथाओं का किस प्रकार अनुभव करते हैं, रचते हैं और संप्रेषित करते हैं। इस प्रक्रिया में एक मौलिक पुनर्गठन हो रहा है। यह रूपांतरण इस बात को स्पष्ट करता है कि आधुनिक समाज में व्यक्ति और समुदाय अपने अनुभवों को नए और विविध तरीकों से समझने और साझा करने की कोशिश कर रहे हैं, जिसके

परिणामस्वरूप अर्थ और पहचान के निर्माण के पारंपरिक रूपों में बदलाव आ रहा है।

अस्थायी संपीड़न की घटना इस परिवर्तन का शायद सबसे महत्वपूर्ण कारक है। आधुनिक समाज, जिसे समाजशास्त्री हार्टमुट रोजा सामाजिक त्वरण (Social Acceleration) कहते हैं, उसने मौलिक रूप से उस तरीके को बदल दिया है जिससे मनुष्य समय का अनुभव करता है और उसे संसाधित करता है।¹⁹ जहाँ पारंपरिक मिथकीय चेतना मौसमी परिवर्तन और पीढ़ीगत उत्तराधिकार के चक्रों के भीतर संचालित होती थी, वहीं आधुनिक चेतना को एक निरंतर त्वरण से जूझना पड़ता है जो उस अवसादी प्रक्रिया के लिए बहुत कम जगह छोड़ता है जिसके माध्यम से पारंपरिक रूप से मिथक बनते हैं। यह संपीड़न न केवल दैनिक जीवन की गति में, बल्कि स्मृति निर्माण और सांस्कृतिक संचरण की संरचना में भी प्रकट होता है। ऐसी घटनाएँ, जिन्हें पहले संसाधित करने और सामूहिक चेतना में आत्मसात करने में पीढ़ियों का समय लग जाता था, अब समाचार चक्रों में तेजी से घुमती हैं, जो कुछ घंटों या दिनों तक ही चलती हैं। इस प्रक्रिया को सांस्कृतिक सिद्धांतकार फ्रेडरिक जेम्सन सतत वर्तमान (Perpetual Present) के रूप में संदर्भित करते हैं, जो सार्थक मिथकीय एकीकरण की प्रक्रिया को चुनौतीपूर्ण बना देती है।²⁰

मैक्स वेबर द्वारा विश्लेषित तर्कसंगतीकरण प्रक्रिया ने पौराणिक चेतना को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वेबर का कहना था कि जैसे-जैसे समाज ने तर्कसंगतता (Rationalization) और वैज्ञानिक सोच को अपनाया, वैसे-वैसे पारंपरिक, पौराणिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोणों में कमी आई। इसका परिणाम यह हुआ कि दुनिया से एक प्रकार का मोहभंग हुआ, यानी वह जादुई और रहस्यमय आभा, जो पहले धर्म, मिथक और तंत्र के माध्यम से समाज को घेरती थी, अब खत्म हो गई।²¹ हालाँकि, डिसएन्चॉटमेंट ऑफ़ द वर्ल्ड ने मिथकीय सोच को तर्कसंगत समझ से सरलता से प्रतिस्थापित करने के लिए प्रेरित नहीं किया, जैसा कि शुरुआती आधुनिकतावादी विचारकों ने अपेक्षित किया था। इसके बजाय, इसने एक जटिल द्वंद्वात्मकता उत्पन्न की है, जहाँ तर्कसंगत व्याख्याएँ अक्सर मानवीय अर्थ-निर्माण की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त साबित होती हैं, जबकि पारंपरिक मिथकीय ढाँचे अब पूरी तरह से सुलभ या विश्वसनीय नहीं

लगते। इस स्थिति ने दार्शनिक चार्ल्स टेलर द्वारा आधुनिकता की अस्वस्थता (Malaises of Modernity) के रूप में वर्णित एक अवस्था को जन्म दिया है²² जहाँ अभूतपूर्व तकनीकी और वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद (या शायद उन्हीं के कारण) नुकसान और वियोग की निरंतर भावना बनी रहती है।

प्रतीकात्मक समझ के कमजोर होने से दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर ने जिसे अस्तित्व की विस्मृति (Forgetting of Being) कहा है,²³ वह वास्तविकता को केवल तथ्यात्मक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि स्वाभाविक रूप से सार्थक और अर्थपूर्ण रूप में अनुभव करने की घटती क्षमता है। मास मीडिया और डिजिटल प्रौद्योगिकी का प्रभाव इस परिवर्तन को और भी जटिल बना चुका है। जबकि ये प्रौद्योगिकियाँ सूचना और कनेक्टिविटी तक अभूतपूर्व पहुँच प्रदान करती हैं, वे साथ ही अनुभव और संचार में मानवीय पैमाने के टूटने में भी योगदान करती हैं। सूचना और छवियों का निरंतर प्रवाह दार्शनिक जीन बॉडरिलार्ड द्वारा हाइपररियलिटी के रूप में वर्णित स्थिति उत्पन्न करता है, जिसमें सत्य और कल्पना, वास्तविकता और मीडिया निर्मित संसार के बीच की रेखाएँ अस्पष्ट होती जाती हैं,²⁴ और इस प्रकार वास्तविक चेतना का निर्माण और भी कठिन हो जाता है।

आधुनिक समय में नए मिथकात्मक ढाँचे बनाने के प्रयासों को इस तेजी से बदलते और तर्कसंगत वातावरण में विशेष चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। राजनीतिक विचारधाराएँ, उपभोक्तावादी आख्यान, और तकनीकी यूटोपिया अक्सर पारंपरिक मिथकों द्वारा छोड़े गए खाली स्थान को भरने की कोशिश करती हैं, लेकिन वे आमतौर पर उस “Liminal Space” की कमी का शिकार होते हैं, जिसे मानवविज्ञानी विक्टर टर्नर ने वास्तविक मिथकात्मक अनुभव के लिए आवश्यक बताया है।²⁵ ये आधुनिक विकल्प प्रायः सतही स्तर पर काम करते हैं, और वे उस गहरे संबंध को स्थापित करने में विफल रहते हैं जिसे मनोवैज्ञानिक कार्ल जंग ने सामूहिक अवचेतन (Collective Unconscious) के साथ जोड़ा है।²⁶ इस प्रकार, यह स्थिति यह दर्शाती है कि नए मिथकों की खोज न केवल गहरे अर्थ की आवश्यकता है, बल्कि उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में लोगों के अनुभवों को समृद्ध करने के लिए एक स्थायी आधार की भी आवश्यकता है।

आधुनिकता में सामाजिक अनुभव का विखंडन भी मिथकीय चेतना

के लिए चुनौती प्रस्तुत करता है। पारंपरिक मिथक समाजशास्त्री एमिल दुर्खीम द्वारा वर्णित सामूहिक उत्साह (Collective Effervescence) पर आधारित थे, जहाँ साझा अनुभवों ने समुदायों को सामान्य समझ और परंपराओं के माध्यम से एकजुट किया।¹⁷ लेकिन आधुनिक सामाजिक विखंडन, जिसे समाजशास्त्री ज़िगमंड बाउमन ने तरल आधुनिकता (Liquid Modernity) के रूप में वर्णित किया है, ऐसे सामूहिक अनुभवों को तेजी से दुर्लभ और बनाए रखना कठिन बना देता है।¹⁸ यह परिवर्तन मिथकीय चेतना के निर्माण में एक बाधा के रूप में कार्य करता है, क्योंकि समाज में साझा अर्थ और अनुभव की कमी, एकजुटता और पहचान के पारंपरिक रूपों को कमजोर कर देती है। इस प्रकार, यह विखंडन न केवल सामाजिक बंधनों को कमजोर करता है, बल्कि यह मिथकात्मक नैरेटिव्स के निर्माण और उनके महत्त्व को भी कम करता है, जिससे व्यक्तियों के लिए साझा पहचान और अर्थ की खोज में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं।

हालाँकि, विरोधाभासी रूप से, आधुनिक मिथकीय चेतना में इसी संकट ने सांस्कृतिक सिद्धांतकार वाल्टर बेंजामिन द्वारा पहचाने गए द्वंद्वात्मक छवि के रूप में एक ऐसा क्षण उत्पन्न किया है, जहाँ अतीत अचानक एक नए दृष्टिकोण से समझने योग्य हो जाता है। आधुनिक मिथक—निर्माण प्रयासों की विफलता ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है, जिसमें पारंपरिक मिथक नए सिरे से, और अधिक ताकत के साथ लौटते हैं, हालाँकि आधुनिक चेतना के माध्यम से उनके प्रस्तुत होने के कारण वे बदल जाते हैं। यह घटना यह समझने में मदद करती है कि क्यों प्राचीन मिथकीय ढाँचे अत्यधिक तकनीकी और आधुनिक समाजों में भी गूँजते रहते हैं, क्योंकि वे हमारी जटिल सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों में गहरे अर्थों और संदर्भों को पुनः उत्पन्न करते हैं।

आधुनिक समाज में स्मृति प्रक्रियाओं का परिवर्तन इन चुनौतियों को और भी जटिल बना देता है। जहाँ पारंपरिक समाजों ने इतिहासकार पियरे नोरा द्वारा “स्मृति के वातावरण” के रूप में वर्णित एक प्राकृतिक संदर्भ बनाए रखा, वहीं आधुनिक समाज तेजी से उन कृत्रिम संरचनाओं पर निर्भर करता है, जिन्हें वे स्मृति के पर्यावरण (Environments of Memory) के रूप में वर्णित करते हैं।¹⁹ ऐसे स्थल उन चीज़ों को संरक्षित करने का प्रयास करते हैं जिन्हें अब सहज रूप से याद नहीं किया जाता। इस बदलाव का असर न केवल मिथकों के संप्रेषण के तरीके पर पड़ता है, बल्कि सामूहिक

चेतना के भीतर उनके निर्माण और कार्य करने के तरीकों पर भी गहरा प्रभाव डालता है, क्योंकि अब स्मृति को बनाए रखने के लिए एक कृत्रिम ढाँचा और विशेष प्रयासों की आवश्यकता होती है।

इन रूपांतरणों को समझना आधुनिक अर्थ-निर्माण में संकट और मिथकात्मक ढाँचे की निरंतर मानव आवश्यकता दोनों का विश्लेषण करने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। कालिक अनुभव का संकुचन, विश्वदृष्टियों का तर्कसंगतीकरण, सामाजिक जीवन का विखंडन और स्मृति प्रक्रियाओं का रूपांतरण ने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न की है, जहाँ पारंपरिक मिथकात्मक चेतना को बनाए रखना लगातार कठिन होता जा रहा है, फिर भी कोई पूरी तरह से पर्याप्त आधुनिक विकल्प अब तक उभरकर सामने नहीं आया है। यह दुविधा उस आधुनिक मिथकात्मक संकट के केंद्र में स्थित है जिसे हम पहचान सकते हैं। इस प्रकार, यह स्थिति यह दर्शाती है कि कैसे आधुनिकता की चुनौतियों के बीच मानवता को अर्थ और पहचान की खोज में एक संतुलन बनाने की आवश्यकता है, जो अंततः एक नई मिथकात्मक भाषा के निर्माण की ओर मार्गदर्शन कर सकती है।

4. मिथक निर्माण के आधुनिक प्रयास

आधुनिक समाज में नए मिथकीय ढाँचे बनाने के प्रयास एक जटिल और अक्सर विरोधाभासी प्रक्रिया के रूप में देखे जा सकते हैं, जो पारंपरिक मिथकों के क्षय द्वारा छोड़े गए रिक्त स्थान को भरने का प्रयास करती है। ये प्रयास, हालाँकि विविध और कई दृष्टिकोणों से भरे हुए हैं, जो मानवता की मिथकात्मक समझ की निरंतर आवश्यकता और आधुनिक परिस्थितियों में अर्थपूर्ण मिथकों के निर्माण में आने वाली अनूठी चुनौतियों को उजागर करते हैं। इस प्रकार, यह स्थिति यह दर्शाती है कि कैसे व्यक्ति और समाज अपनी पहचान और अर्थ की खोज में नए मिथकों की तलाश कर रहे हैं, जबकि वे अपने अनुभवों को वर्तमान संदर्भ में पुनः रचनात्मक रूप से समाहित करने की कोशिश कर रहे हैं।

राजनीतिक आख्यान शायद मिथक-निर्माण के सबसे प्रमुख आधुनिक प्रयास का प्रतिनिधित्व करते हैं। राष्ट्रवाद से लेकर यूटोपियनवाद के विभिन्न रूपों तक, बीसवीं सदी की भव्य विचारधाराओं ने राजनीतिक दार्शनिक एरिक वोगेलिन द्वारा पोलिटिकल रिलिजन कहे जाने वाले मिथकों की एक दुनिया के निर्माण का प्रयास किया।³⁰ इन आख्यानों ने

इतिहास, समाज और व्यक्तिगत उद्देश्य को समझने के लिए व्यापक रूपरेखा प्रदान करने की कोशिश की। हालाँकि, जैसा कि हन्ना आरेंट के वर्णन से स्पष्ट होता है कि ये राजनीतिक मिथक अक्सर खतरनाक साबित हुए हैं, क्योंकि उन्होंने जटिल वास्तविकता को अति-सरलीकृत और एकतरफा आख्यान संरचनाओं में बदलने की कोशिश की।¹¹ ऐसे अनेक राजनीतिक मिथकों का तेजी से पतन, विशेषकर बीसवीं सदी की आपदाओं के बाद, उनके आकर्षण और मौलिक अस्थिरता, दोनों को उजागर करता है।

उपभोक्ता संस्कृति ने आधुनिक मिथक-निर्माण का एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र उत्पन्न किया है। जैसा कि सांस्कृतिक आलोचक रोलांड बारथेस ने बताया है कि किस प्रकार समकालीन विज्ञापन और उपभोक्ता कथाएँ उपभोग और जीवनशैली के इर्द-गिर्द निर्मित अर्थ से आधुनिक मिथक प्रणाली बनाने का प्रयास करती हैं।¹² ये उपभोक्ता मिथक क्रय शक्ति और ब्रांड एसोसिएशन के माध्यम से परिवर्तन, पूर्ति और पहचान का वादा करते हैं। फिर भी, जैसा कि समाजशास्त्री जीन बॉडरिलार्ड ने उल्लेख किया है कि ये मिथक मुख्य रूप से उन चीजों के माध्यम से संचालित होते हैं जिन्हें उन्होंने सिमुलक्रा (प्रत्यायन) कहा है—ऐसी प्रतियाँ जो मूल से रहित होती हैं और प्रामाणिक अनुभव के बजाय अन्य प्रतियों के संदर्भ में अर्थ उत्पन्न करती हैं।¹³ इस प्रकार, उपभोक्ता मिथक वास्तविकता से कटकर केवल छवियों और प्रतीकों के संसार में खो जाते हैं, और इस प्रक्रिया में उनके वास्तविक जीवन के अनुभवों से कोई गहरा संबंध नहीं बचता।

तकनीकी यूटोपियनवाद आधुनिक मिथक-निर्माण की तीसरी प्रमुख धारा का प्रतिनिधित्व करता है। प्रारंभिक औद्योगिक क्रांति से लेकर समकालीन डिजिटल संस्कृति तक प्रौद्योगिकी ने मानव प्रगति, परिवर्तन और उत्कृष्टता के बारे में शक्तिशाली आख्यान उत्पन्न किए हैं। कृत्रिम बुद्धिमत्ता, अंतरिक्ष अन्वेषण और डिजिटल परिवर्तन के बारे में सिलिकॉन वैली के आख्यान इतिहासकार डेविड नाए द्वारा टेक्नोलॉजिकल सबलाइम के रूप में वर्णित समकालीन संस्करणों का प्रतिनिधित्व करते हैं।¹⁴ हालाँकि, ये मिथक अक्सर पारंपरिक मिथकों द्वारा दिए गए गहरे अस्तित्वगत अर्थ को प्रदान करने में विफल रहते हैं, क्योंकि वे अधिकतर भौतिक प्रगति और तकनीकी क्षमता पर केंद्रित होते हैं, न कि मानवता के गहरे उद्देश्य और पहचान के सवाल पर। इस प्रकार, जबकि तकनीकी यूटोपियाएँ भविष्य में

विकास और सुधार का वादा करती हैं, वे अक्सर उस अंतर्निहित भावनात्मक और आध्यात्मिक आवश्यकता को पूरा नहीं कर पातीं, जो पारंपरिक मिथकों में निहित थी।

मनोरंजन उद्योग, विशेष रूप से फिल्म और टेलीविजन के माध्यम से, आधुनिक मिथक—निर्माण प्रयासों का एक और महत्वपूर्ण स्थल बन गया है। हॉलीवुड की वैश्विक पहुँच ने सांस्कृतिक सिद्धांतकार जोसेफ कैपबेल द्वारा क्रिएटिव मायथोलॉजी के रूप में परिभाषित नए कथात्मक ढाँचों का निर्माण किया है, जो समकालीन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकताओं को संबोधित करने का प्रयास करते हैं।³⁵ फिर भी, ये कथाएँ, जबकि अक्सर शक्तिशाली और आकर्षक होती हैं, स्थायी अर्थ—निर्माण के ढाँचों के रूप में काम करने के बजाय अस्थायी पलायन के रूप में अधिक कार्य करती हैं। उनका त्वरित उपभोग और प्रतिस्थापन चक्र, सांस्कृतिक आलोचक फ्रेडरिक जेम्सन द्वारा कल्चरल लॉजिक ऑफ़ लेट कैपिटलिज़्म के रूप में पहचाना गया, जो यह दर्शाता है कि कैसे इन आधुनिक मिथकों को निरंतर उपभोग और पुनः निर्मित किया जाता है, लेकिन वे अधिक गहरे और स्थायी सामाजिक या सांस्कृतिक संदर्भों से कटे होते हैं।³⁶

वैज्ञानिक आख्यान, विशेष रूप से ब्रह्मांड विज्ञान और विकासवादी जीवविज्ञान जैसे क्षेत्रों में, आधुनिक मिथक—निर्माण के एक और महत्वपूर्ण प्रयास का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन आख्यानों का उद्देश्य मानवविज्ञानी ब्रोनिस्लाव मालिनोव्स्की द्वारा चार्टर मिथक के रूप में वर्णित उन आधारभूत कहानियों को प्रस्तुत करना है, जो उत्पत्ति और उद्देश्य की व्याख्या करती हैं।³⁷ हालाँकि, जैसा कि दार्शनिक मैरी मिडज़ली के वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक विवरण अक्सर उस तरह की भावनात्मक और अस्तित्वगत संतुष्टि प्रदान करने में विफल रहते हैं, जो पारंपरिक मिथक देने में सक्षम होते हैं, भले ही भौतिक दृष्टि से वे अधिक व्याख्यात्मक और प्रमाणिक प्रतीत होते हैं।³⁸

इन विभिन्न आधुनिक मिथक—निर्माण प्रयासों की विफलता को कई प्रमुख कारकों के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। सबसे पहले, आधुनिक जीवन की गति किसी भी नए मिथक के लिए उस लौकिक गहराई को प्राप्त करना मुश्किल बना देती है, जो वास्तविक पौराणिक प्रतिध्वनि के लिए आवश्यक है। दूसरा, आधुनिक चेतना की तर्कसंगत और साधनात्मक

प्रकृति मिथकीय अनुभव के लिए आवश्यक गुणवत्ता को कमजोर करती है। आधुनिक मिथक अक्सर बहुत गणना किए हुए और बहुत स्पष्ट रूप से निर्मित प्रतीत होते हैं, जो पारंपरिक पौराणिक ढाँचों में मौजूद अचेतन प्रतिध्वनि को प्राप्त करने में असफल रहते हैं। तीसरा, आधुनिक अनुभव का विखंडन किसी भी एकल कथा को उस व्यापक अर्थ-निर्माण शक्ति प्रदान करने में कठिनाई उत्पन्न करता है, जो पारंपरिक मिथकों के पास थी। इस प्रकार, इन कारकों का संयोजन यह दर्शाता है कि आधुनिक समय में मिथक निर्माण केवल एक सांस्कृतिक चुनौती नहीं, बल्कि अस्तित्वगत संकट भी बन गया है।

इन असफलताओं के बावजूद मिथक-निर्माण के आधुनिक प्रयास समकालीन मानवीय आवश्यकताओं और क्षमताओं के बारे में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रकट करते हैं। बार-बार विफलता के बावजूद भी नए मिथक बनाने का निरंतर प्रयास मानवीय चेतना की मौलिक प्रतीकात्मक प्रकृति को प्रदर्शित करता है। यह प्रयास यह दर्शाता है कि मानवीय अस्तित्व गहरे रूप से अर्थ और पहचान की तलाश में है, जो केवल तथ्यात्मक और तर्कसंगत दृष्टिकोणों से परे होता है। आधुनिक मिथकों की अपर्याप्तता एक ऐसी स्थिति की ओर इशारा करती है, जो विरोधाभासी रूप से प्रामाणिक अर्थ-निर्माण के लिए नए अवसर पैदा करती है। इन आधुनिक मिथक-निर्माण प्रयासों और उनकी सीमाओं को समझने से हम पारंपरिक मिथकों की निरंतर अपील और समकालीन अर्थ-निर्माण प्रणालियों में चल रहे संकट दोनों को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। यह अंतर्दृष्टि हमें यह भी सोचने के लिए प्रेरित करती है कि कैसे हम भविष्य में सार्थक कथाएँ बना सकते हैं जो पौराणिक चेतना के गहरे स्रोतों से जुड़े रहते हुए आधुनिक समाज की आवश्यकताओं और अनुभवों को समाहित कर सकें। इस प्रकार, आधुनिक मिथक-निर्माण की प्रक्रिया, हालाँकि अस्थिर और चुनौतीपूर्ण हो, फिर भी यह हमें यह समझने में मदद करती है कि मानवीय संस्कृति अपने अस्तित्व के गहरे अर्थों की खोज में निरंतर प्रयासरत है।

5. पारंपरिक मिथकों की वापसी

समकालीन संस्कृति में पारंपरिक मिथकों की लगातार वापसी महज पुरानी यादों या सांस्कृतिक रूढ़िवादिता से कहीं अधिक का प्रतिनिधित्व करती है। यह दार्शनिक हंस-जॉर्ज गेडामेयर द्वारा वर्णित प्रभावी ऐतिहासिक चेतना

की गहरी समझ को दर्शाता है, जो यह इंगित करती है कि अतीत के अर्थ वर्तमान समझ को आकार देते हैं और उसे सूचित करते हैं, भले ही संदर्भ मौलिक रूप से परिवर्तित क्यों न हो।⁹⁹ गेडामेयर के अनुसार, यह प्रभावी ऐतिहासिक चेतना एक निरंतर संवाद है, जिसमें अतीत और वर्तमान के बीच अर्थों का आदान-प्रदान होता रहता है। इससे हम अपनी पहचान और अनुभवों को नए तरीके से समझने के लिए प्रोत्साहित होते हैं। इस प्रकार, पारंपरिक मिथक न केवल अतीत की परंपराओं का पुनः आवलोकन करते हैं, बल्कि वे समकालीन समाज की समस्याओं और आवश्यकताओं से जुड़ी नई, प्रासंगिक कहानियों का निर्माण भी करते हैं। उनकी पुनरावृत्ति इस बात का संकेत है कि हम अतीत के अनुभवों और प्रतीकों से ऊर्जा और प्रेरणा प्राप्त करते हैं, जो हमें अपनी जटिल वास्तविकताओं का सामना करने के लिए अर्थ और दिशा प्रदान करते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण में पारंपरिक मिथकीय ढाँचे समकालीन मनोवैज्ञानिक समस्याओं को समझने और उनका समाधान करने के लिए महत्वपूर्ण उपकरण प्रदान करते हैं। इन ढाँचों की लचीलापन दर्शाता है जिसे जेम्स हिलमैन ने आर्किटेपल साइकोलॉजी के संदर्भ में उन पैटर्नों को परिभाषित किया है, जो सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के बावजूद अपनी प्रभावशीलता बनाए रखते हैं।¹⁰⁰ आधुनिक चिकित्सीय पद्धतियाँ अक्सर पारंपरिक पौराणिक रूपकों की ओर लौटती हैं, क्योंकि ये पैटर्न गहरे मानव मनोवैज्ञानिक पहलुओं से जुड़े होते हैं और समय के साथ भी उनकी प्रासंगिकता बनी रहती है।

सांस्कृतिक निर्माण में पारंपरिक मिथकों का पुनः उपयोग और पुनर्व्याख्या तेजी से प्रमुख होती जा रही है। साहित्य से लेकर सिनेमा तक, समकालीन कलाकार प्राचीन मिथकीय ढाँचों की ओर लौटकर उनमें आधुनिक अनुभवों को गहरे और सार्थक तरीकों से व्यक्त करने के लिए आदर्श पैटर्न ढूँढते हैं। यह प्रवृत्ति केवल रचनात्मक आलस्य या बाजार की रूढ़िवादिता को नहीं दर्शाती, बल्कि दार्शनिक वाल्टर बेंजामिन के ऑप्टिकल अनकॉन्सिसियस के सिद्धांत को प्रमाणित करती है, जिसमें यह बताया गया है कि पारंपरिक रूप अचानक बदलती ऐतिहासिक परिस्थितियों में नई प्रासंगिकता कैसे उत्पन्न कर सकते हैं।¹⁰¹

राजनीतिक क्षेत्र में भी पारंपरिक मिथकीय ढाँचों की महत्वपूर्ण वापसी देखी गई है, विशेष रूप से संकट या सामाजिक परिवर्तन के समय में। पारंपरिक मिथक अक्सर उन राजनीतिक चुनौतियों को समझने और उनका समाधान निकालने के लिए संदर्भ प्रदान करते हैं, जिन्हें केवल तर्कसंगत दृष्टिकोणों से संबोधित नहीं किया जा सकता। यह पैटर्न यह संकेत करता है कि पारंपरिक धार्मिक और मिथकीय रूप, भले ही धर्मनिरपेक्ष संदर्भों में उपयोग किए जा रहे हों, राजनीतिक समझ और क्रियावली को किस प्रकार आकारित करते हैं। आधुनिक संदर्भों में पारंपरिक मिथकों की प्रभावशीलता को कई प्रमुख कारणों से समझा जा सकता है। सबसे पहले, इन मिथकों की ऐतिहासिक दूरी, यानी समय और संदर्भ से उनका अलगाव, उनकी शक्ति को कम करने के बजाय बढ़ाती है। जैसा कि सांस्कृतिक सिद्धांतकार मिखाइल बख्तिन ने कहा है कि पारंपरिक मिथकों का क्रोनोटोप, समय और स्थान की उनकी विशिष्ट व्यवस्था, उन्हें महान समय के परिप्रेक्ष्य में बनाए रखने में सक्षम बनाता है, जो तत्काल ऐतिहासिक परिस्थितियों से परे हैं।¹² यह दूरी एक संभावनाओं का क्षेत्र उत्पन्न करती है, जहाँ पारंपरिक अर्थों को निलंबित किया जा सकता है और नई समझ उभर सकती है।

दूसरे, पारंपरिक मिथकों में ऐसी गहरी परतें होती हैं, जिन्हें नए संदर्भों में पुनः सक्रिय किया जा सकता है। आधुनिक रूप से निर्मित आख्यानों के विपरीत, पारंपरिक मिथक लंबे समय तक विकसित होते रहे हैं, और जैसा कि सांस्कृतिक सिद्धांतकार रेमंड विलियम्स ने कहा है कि इनमें भावनाओं की संरचना होती है, जो मौलिक मानवीय अनुभवों से गहरे रूप में जुड़ी रहती है।¹³ यही संचित अर्थ पारंपरिक मिथकों को आज की समकालीन जरूरतों को संबोधित करने की क्षमता प्रदान करता है, जबकि वे मानवीय समझ के गहरे और स्थायी पैटर्न से जुड़े रहते हैं।

तीसरे, आधुनिक मिथक-निर्माण प्रयासों की विफलता ने पारंपरिक मिथकों की आकर्षण को और भी बढ़ा दिया है। जैसा कि दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर ने बताया कि आधुनिकता की विशेषता 'फॉरगेटिंग ऑफ बीइंग' पारंपरिक समझ के रूपों के लिए एक प्रकार का खुलापन उत्पन्न करती है।¹⁴ जब अर्थ-निर्माण के लिए केवल तर्कसंगत या यथार्थवादी दृष्टिकोण अपर्याप्त होते हैं, तो समाजशास्त्री मैक्स वेबर के

अनुसार, यह परिणाम पारंपरिक पौराणिक ढाँचों के माध्यम से अनुभव के री-एन्चांटमेंट की ओर ले जाता है।⁴⁵

हालाँकि, पारंपरिक मिथकों की ओर यह वापसी जटिलताओं से मुक्त नहीं है। समकालीन दृष्टिकोणों को उत्तरआधुनिक स्थितियों से भी निपटना ही पड़ता है, जहाँ सभी पारंपरिक विचार प्रतिरूपण को आधुनिक चेतना के माध्यम से मध्यस्थता किए जाने की अपेक्षाएँ भी होती हैं। यह स्थिति दार्शनिक जैक्स डेरिडा द्वारा डिफरेन्स के रूप में वर्णित अर्थों के निरंतर खेल को उत्पन्न करती है, जो पारंपरिक समझ की ओर किसी भी सीधी या सरल वापसी को रोकते हैं।⁴⁶

6. मानव चेतना के लिए परिणाम

आधुनिकता में मिथकीय चेतना के परिवर्तन के साथ-साथ पारंपरिक मिथकों की निरंतर वापसी, समकालीन मानव चेतना पर गहरा प्रभाव डालती है। ये प्रभाव न केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक आयामों में, बल्कि व्यापक सामाजिक संरचनाओं में भी फैले हुए हैं, और इस तरह हमारे धर्मनिरपेक्ष युग में विश्वास की बदलती स्थितियों को उजागर करते हैं।

मनोवैज्ञानिक स्तर पर मिथकीय चेतना में संकट ने उस स्थिति में योगदान किया है जिसे मनोविश्लेषक एरिक फ्रॉम ने आधुनिक मानवता के स्केप फ्रॉम फ्रीडम के रूप में वर्णित किया है।⁴⁷ स्थिर मिथकीय ढाँचों की कमी ने व्यक्तियों को अधिक संवेदनशील बना दिया है, उस स्थिति के प्रति जिसे मनोचिकित्सक विक्टर फ्रैंकल ने “Existential Vacuum” के रूप में परिभाषित किया है।⁴⁸ यह शून्यता अर्थहीनता की एक व्यापक भावना है, जो आधुनिक अनुभव की विशेषता है। यह शून्यता मनोवैज्ञानिक संकट के विभिन्न रूपों में प्रकट होती है, जैसे कि चिंता और अवसाद, और साथ ही समाजशास्त्री एमिल दुर्खीम द्वारा बताई गई “anomie” की स्थिति में, जिसमें आदर्शहीनता और सार्थक सामाजिक संरचनाओं से वियोग महसूस होता है।⁴⁹

पहचान निर्माण पर प्रभाव उत्पन्न करने में भी मिथकों का विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहा है। जहाँ पारंपरिक मिथकों ने व्यक्तिगत विकास और सामाजिक एकीकरण के लिए स्पष्ट पैटर्न प्रदान किए, वहीं आधुनिक व्यक्तियों को अपनी पहचान का निर्माण जैसा कि समाजशास्त्री एंथनी गिडेंस के शब्दों में कहें तो रीप्लेक्सिव प्रोजेक्ट ऑफ़ द सेल्फ के रूप में

करना पड़ता है।⁵⁰ यह स्थिति पहचान निर्माण में विशिष्ट चुनौतियाँ उत्पन्न करती है, क्योंकि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत आख्यानो को बड़े सामाजिक और सांस्कृतिक ढाँचे में फिट करने के लिए संघर्ष करते हैं। इसके परिणामस्वरूप, मनोवैज्ञानिक तनाव अक्सर दार्शनिक जीन-पॉल सार्त्र की शब्दावली बैड फेथ के रूप में प्रकट होता है, जो आत्म-धोखे के विभिन्न रूपों के माध्यम से प्रामाणिक आत्म-निर्माण के बोझ से बचने की कोशिश करता है।⁵¹

सामूहिक रूप से मिथकीय चेतना में परिवर्तन ने सामाजिक सामंजस्य और सांस्कृतिक संचरण को गहरे तरीके से प्रभावित किया है। साझा मिथकीय ढाँचों के कमजोर होने से रॉबर्ट पुटनाम द्वारा वर्णित डिकलाइन ऑफ़ सोशल कैपिटल की स्थिति बन जाती है,⁵² जो सामान्य समझ और आपसी विश्वास के क्षरण को दर्शाता है, जो पारंपरिक रूप से समुदायों को जोड़ते थे। यह गिरावट दार्शनिक जुरगन हेबरमास के कॉलोनाइजेशन ऑफ़ द लाइफवर्ल्ड के रूप में प्रकट होती है, जो यांत्रिक तर्कसंगतता द्वारा संचालित होती है, और जहाँ सार्थक सामाजिक संबंधों को नौकरशाही और आर्थिक गणनाओं द्वारा तेजी से प्रतिस्थापित किया जा रहा है।⁵³ अंतर-पीढ़ीगत संबंधों पर प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। पीढ़ियों के बीच सार्थक सांस्कृतिक आख्यानो को प्रसारित करने की कठिनाई ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जहाँ अतीत वर्तमान कार्रवाई के लिए कम मार्गदर्शन प्रदान करता है। सांस्कृतिक संचरण में यह टूटन तेजी से बदलती सामाजिक परिस्थितियों में सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखने की बढ़ती कठिनाई में योगदान करती है।

पारंपरिक मिथकीय ढाँचों ने उन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक संरचनाओं को उपलब्ध कराया, जो व्यक्तियों को जीवन की चुनौतियों और बदलावों का सामना करने में सहायक होती थीं। इन ढाँचों के कमजोर होने से कई व्यक्तियों के पास आघात, हानि और महत्वपूर्ण जीवन संक्रमणों से निपटने के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं रहते। यह स्थिति मनोचिकित्सक रॉबर्ट जे. लिफ्टन द्वारा वर्णित मानसिक सुन्नता (Psychic Numbing) की स्थिति में योगदान करती है, जिसमें व्यक्ति जीवन की मूलभूत चुनौतियों से सार्थक रूप से निपटने की क्षमता खो बैठता है।⁵⁴

हालाँकि, मिथकीय चेतना में संकट ने मानवीय समझ और विकास के लिए नई संभावनाएँ भी उत्पन्न की हैं। पारंपरिक ढाँचों का टूटना अर्थ

और अस्तित्व के साथ मानवीय संबंधों पर मौलिक पुनर्विचार की आवश्यकता को जन्म देता है। इस पुनर्विचार ने समाजशास्त्री उलरिच बेक के शब्दों में रिप्लेक्सिव मॉडर्नाइजेशन को जन्म दिया है, जो आधुनिक मान्यताओं और प्रथाओं की आलोचनात्मक जाँच है और जो सार्थक अस्तित्व के लिए नई संभावनाओं का मार्ग खोलता है।⁵⁵

आधुनिक समझ के साथ पारंपरिक ज्ञान को जोड़ने के प्रयासों का उद्भव इस संकट का एक संभावित उत्तर प्रदान करता है। ये एकीकृत प्रयास अर्थ और अस्तित्व के साथ मानवीय संबंधों को समझने के नए तरीके सुझाते हैं, जो न केवल पारंपरिक पौराणिक ढाँचों, बल्कि आधुनिक तर्कसंगत विचारधारा से भी परे होते हैं। यह दिशा मानवीय चेतना और सामाजिक संगठन के नए रूपों की ओर इशारा करती है, जो अर्थ-निर्माण के वर्तमान संकट से उभर सकते हैं। इस चुनौती का समाधान समझ के लचीले और सार्थक ढाँचे विकसित करने में है, जो मानवीय ज्ञान के गहरे स्रोतों से जुड़े रहते हुए समकालीन जरूरतों को पूरा कर सकें।

7. निष्कर्ष और भविष्यगत संभावना

आधुनिकता में मिथकीय चेतना का संकट मानवीय अर्थ-निर्माण क्षमताओं के लिए एक बुनियादी चुनौती का प्रतिनिधित्व करता है, फिर भी यह समझ और सांस्कृतिक विकास के नए रूपों के लिए संभावनाओं को भी खोलता है। इस जाँच ने मिथकीय ढाँचों के लिए निरंतर मानवीय आवश्यकता और समकालीन परिस्थितियों में उनके परिवर्तन की जटिल गतिशीलता दोनों को उजागर किया है।

पहला, आधुनिकता में लौकिक अनुभव के संकुचन ने मिथकों के निर्माण और उनके कार्य करने के तरीके को मौलिक रूप से बदल दिया है, जिससे सार्थक कथा निर्माण की दिशा में नई चुनौतियाँ उत्पन्न हुई हैं। दूसरा, जबकि आधुनिक मिथक-निर्माण प्रयास पारंपरिक मिथकों की गहराई और प्रतिध्वनि को पूरी तरह से पुनः स्थापित करने में असफल रहे हैं, इन विफलताओं ने मानव चेतना की प्रकृति और उसके अर्थ-निर्माण की जरूरतों के बारे में महत्वपूर्ण अंतर्दृष्टियाँ प्रदान की हैं। तीसरा, अत्यधिक तर्कसंगत आधुनिक संदर्भों में भी पारंपरिक मिथकों की निरंतर वापसी इस बात का संकेत देती है कि वे मनुष्य के मनोवैज्ञानिक और सामाजिक विकास के लिए अब भी प्रासंगिक हैं।

आधुनिकता में मिथकीय चेतना का संकट एक जटिल और बहुआयामी चुनौती प्रस्तुत करता है। यह मानवीय अर्थ-निर्माण क्षमताओं में एक मौलिक परिवर्तन को दर्शाता है, जिसमें पारंपरिक मिथकीय ढाँचों का क्षय और नए अर्थ-निर्माण प्रयासों की सीमाएँ दोनों शामिल हैं। इससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक समाज में कालिक अनुभव का संकुचन, सामाजिक विखंडन और तर्कसंगत सोच की प्रधानता ने मिथकीय चेतना के पारंपरिक रूपों को गंभीर रूप से प्रभावित किया है।

आधुनिक मिथक-निर्माण के विभिन्न प्रयास, चाहे वे राजनीतिक विचारधाराएँ हों, उपभोक्तावादी आख्यान हों, या तकनीकी यूटोपिया, पारंपरिक मिथकों द्वारा प्रदान किए गए गहरे अर्थ और सामाजिक एकजुटता को पूरी तरह से प्रतिस्थापित करने में विफल रहे हैं। हालाँकि, पारंपरिक मिथकों की निरंतर वापसी यह दर्शाती है कि मानव चेतना में गहरे अर्थ और सांस्कृतिक संदर्भ की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है, भले ही वह आधुनिक परिस्थितियों में नए रूपों में व्यक्त हो। भविष्य में सार्थक अर्थ-निर्माण के लिए एक नए संश्लेषण की आवश्यकता है, जो पारंपरिक मिथकीय ज्ञान की गहराई को आधुनिक चेतना की जटिलताओं के साथ जोड़ सके। यह चुनौती न केवल बौद्धिक है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक भी है, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत और सामूहिक पहचान के नए रूपों का निर्माण शामिल है, जो वर्तमान युग की आवश्यकताओं को संबोधित कर सकें। इस प्रकार, मिथकीय चेतना का भविष्य परंपरा और नवीनता, अतीत और वर्तमान के बीच एक जीवंत संवाद पर निर्भर करता है।

अंत में हमें उस चेतावनी की ओर भी ध्यान देना चाहिए जिसे हमारे समय के महान वैज्ञानिक स्टीफन हॉकिंस ने यह कहते हुए दर्ज किया है कि मानव जिस तरह से पृथ्वी पर उपलब्ध संसाधनों का अतिशय उपभोग कर रहा है, इससे पृथ्वी पर मनुष्य के जीने की संभावना अधिक से अधिक सौ वर्ष रह गयी है। ऐसे में मानव जाति को दूसरे ग्रहों पर बस्तियाँ बसाने का कार्य आरम्भ कर देना चाहिए।¹⁶ इसी तरह रोमियो सिकिजोर ने फोर्ब्स पत्रिका में छपे अपने लेख में यह संभावना प्रदर्शित की है कि निकट भविष्य में होमो सेपियन्स टेक्नो सेपियन्स में बदल जायेगा और तब तक सर्विलांस स्टेट की निगरानी क्षमता बहुत अधिक बढ़ चुकी होगी।¹⁷ इन दोनों ही संभावनाओं में मनुष्य का जो भविष्य निहित है वह भी आने वाले समय में एक

नए प्रकार के मिथकों को उत्पन्न करने में योगदान नहीं देगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। भले ही वह भविष्य का समय हमारे वर्तमान की अपेक्षा सुखकर न हो अथवा उस भविष्य में सुख की परिभाषाएँ ही बदल गयी हों, जो आज के समय में हमें अतार्किक और अरुचिपूर्ण लगती हों। किन्तु, जब उक्त भविष्य के सन्दर्भ को लेकर मिथकीय आख्यानों का सृजन होगा तब उसके औचित्य को प्रमाणित करने की चेष्टा उसमें अधिक होगी। किन्तु, तब भी हमारे आज के मिथकों की स्मृति पूर्णतः नष्ट नहीं हो सकेगी और जैसे आज हम सुनहरे अतीत की परिकल्पना करते हैं उसी तरह भविष्य में भी हम एक सुनहरे अतीत की परिकल्पना कर रहे होंगे, जिसका सम्बन्ध हमारे आज से होगा, भले ही हम अपने आज से संतुष्ट न हों।

* राजनीति शास्त्र विभाग,
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज (का.हि.वि.वि.), वाराणसी
** मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग,
ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी—

1. मिश्र, विश्वनाथ (2022), भारतीय राष्ट्रवाद : राष्ट्रवाद का अवधारणात्मक वि-औपनिवेशीकरण, डी.के. प्रिंटवर्ल्ड, नईदिल्ली, पृष्ठ-70.
2. बेंजामिन, डब्ल्यू. (1968), इल्यूमिनेशन्स, एच. जोन द्वारा अनुदित, शॉकेन बुक्स, न्यूयार्क, पृष्ठ-253-264.
3. देखें, जंग, सी. जी. (1990), द आर्कीटाइप्स एंड द कलेक्टिव अनकॉनशियस, आर. एफ. सी. हल, द्वारा अनुदित, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क।
4. कैपबेल, जे. (2004), द हीरो विद अ थाउजंड फेसेस, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, पृष्ठ-01-42.
5. देखें, एलिएड, एम. (1959), द सेक्रेड एंड द प्रोफेन: द नेचर ऑफ रिलिजन, डब्ल्यू. आर. ट्रास्क, द्वारा अनुदित, हरकोर्टब्रेस, न्यूयार्क।
6. कोहेन, ए. (2010), मिथ एंड मिथक्रिटिसिज़्म फॉलोइंग द डायलेक्टिक्स ऑफ एन्लाइटनमेंट, द यूरोपीयन लिगेसी, भाग-15, अंक-5, पृष्ठ 583-598.
7. बार्थेस, आर. (1972). मायथोलॉजीज़, ए. लैवर्स द्वारा अनुदित, फ़ैरर, स्ट्रॉस एंड गिरॉक्स, न्यूयार्क।

8. लेवी-स्ट्रॉस, सी. (1966), द सैवेजमाइंड, जी. वेइडनफेल्ड एवं निकोलसन द्वारा अनुदित, गार्डनसिटी प्रेस, लन्दन, पृष्ठ-217.
9. स्टीवेन्स, एंथनी(2015), लिविंग आर्कटाइप्स: द सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ एंथनी स्टीवेन्स, राउटलेज, लन्दन, पृष्ठ-141.
10. कैपबेल, जे. (2002), द इनर रीचेस ऑफ आउटर स्पेस:मेटाफर ऐंज मिथ एंड ऐंज रिलिजन, न्यूवर्ल्ड लाइब्रेरी, कैलीफोर्निया, पृष्ठ-28.
11. एलिएड, एम. (1954), द मिथ ऑफ द ईटर्नल रिटर्न : कॉस्मोस एंड हिस्ट्री, डब्ल्यू. आर. ट्रास्क द्वारा अनुदित, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, पृष्ठ-88-90.
12. टर्नर, वी. (1977), द रिचुअल प्रोसेस : स्ट्रक्चर एंड एंटी-स्ट्रक्चर, कॉर्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस, एटका, पृष्ठ-153-154.
13. मैकएडम्स, डी. पी. (2011), नरेटिव आइडेंटिटी, अंतर्गत, श्वार्ज, एस., लुइक्स एवं के., विग्नोल्स, वी. (सं), हैंडबुक ऑफ आइडेंटिटी थ्योरी एंड रिसर्च, स्प्रिंगर, न्यूयॉर्क, पृष्ठ- 99-115.
14. बासकॉम, डब्ल्यू. (1983), मालिनोव्स्की कंट्रीब्यूशन्स टू द स्टडी ऑफ फोकलोर, फोकलोर, भाग-94,अंक-2,पृष्ठ,163-172.
15. ऑल्डेनहेज, टी. (2003), पॉल रिकॉयर की "बाइबिलिक हर्मेन्युटिक्स"इन: पारेबल्स फॉर आवर टाइम:सीरिडिंग न्यूटेस्टामेंट स्कॉलरशिप आफ्टर द होलोकोस्ट, ऑक्सफोर्ड एकेडमिक, पृष्ठ-183-200.
16. बर्गर, पी. एल. एवं लुकमैन, टी. (1991), द सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ रियलिटी: एट्रिटीज़ इन द सोशियोलॉजी ऑफ नॉलेज, पेंग्विन बुक्स, लन्दन, पृष्ठ-175-182.
17. नड्सन, आर. डी. (1969), ट्रांससेंडेंटल मोटिव्स इन कार्ल जैस्पर्स' फिलॉसॉफी, फिलॉसॉफिया रिफॉर्माटा, अंक-34, भाग-3-4.
18. ऑंग, डब्ल्यू. जे. (2002), ओरलिटी एंड लिटररीसी: द टेक्नोलॉजाइजिंग ऑफ द वर्ड, राउटलेज, न्यूयार्क, पृष्ठ-05-06.
19. देखें, रोज़ा, एच. एवं त्रेजो-माथिस, जे. (2013), सोशल एक्सेलेरेशन: अ न्यू थ्योरी ऑफ मॉडर्निटी, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, कोलंबिया।
20. जेमेसन, एफ. (2015), द एंटीनोमीज़ ऑफ रियलिज़्म, वेर्सा बुक्स, लन्दन, पृष्ठ-27-44.
21. देखें, वेबर, एम. (2002), द प्रोटेस्टेंट एथिक्स एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज़्म, टी. पार्सन्स द्वारा अनुदित, राउटलेज, न्यूयार्क।
22. टेलर, चार्ल्स. (2007), ए सेक्युलर एज, बेल्कनैप प्रेस ऑफ हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, हार्वर्ड, पृष्ठ-299.

23. ग्रे, जे. जी. (1957), हाइडेगर्स कोर्स : फ्रॉम ह्यूमन एक्सिस्टेंस टू नेचर, द जर्नल ऑफ फिलॉसफी, अंक-54, भाग-8, पृष्ठ, 197-207.
24. फ्रॉयड, एल. (2023), बियाँड द फिजिकल सेल्फ:अंडरस्टैंडिंग द पर्सन ऑफ रियालिटी एंड द डिजायर फॉर डिजिटल ट्रांसेंडेंस बाई डिजिटल एविएतर्स इन द कॉन्टेक्ट ऑफ बौद्रिलार्डस थ्योरी, क्वीओस, <https://doi.org/10.32388/F3Y8IG14> मई, 2024 को देखा गया।
25. टर्नर, वी. (1977), द रिचुअल प्रोसेस:स्ट्रक्चर एंड एंटी-स्ट्रक्चर. कॉर्नल यूनिवर्सिटी प्रेस, एटका, पृष्ठ-94-96.
26. ब्रिटानिका, टी. एडीटर्स ऑफ एन्साइक्लोपीडिया (2024) , कलेक्टिव अनकॉन्शियस. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, <https://www.britannica.com/science/collective-unconscious>, 6 सितम्बर, 2024 को देखा गया।
27. दुर्खीम, ई. (1995), द एलीमेंटरी फॉर्म्स ऑफ रिलीजीअस लाइफ,के. ई. फील्ड्स द्वारा अनुदित, फ्री प्रेस, ग्लास्को, पृष्ठ-220-228.
28. देखें, बॉउमैन, जेड. (2000), लिक्विड मॉडर्निटी, पोलिटी प्रेस, बोस्टन।
29. नौरा, पी. (1989), बिटवीन मेमोरी एंड हिस्ट्री:लेसलिज डे मेम्बॉयर. रिप्रिजेंटेशंस, 26, 7-24. <https://doi.org/10.2307/2928520> 17 जून, 2024 को देखा गया।
30. माइयर, एच. (2007), पॉलिटिकल रिलिजन: अ कांसेप्ट एंड इट्स लिमिटेशंस, टोटलितेरियन मूवमेंट्स एंड पॉलिटिकल रिलिजन्स, 8(1), 5-16, <https://doi.org/10.1080/14690760601121614> 25 जून, 2024 को देखा गया।
31. देखें, आरेंट, एच. (1998), द ओरिजिन्स ऑफ टोटलितेरियनिज्म, हरकोर्टब्रेस पब्लिशर्स, कैलीफोर्निया।
32. देखें, बार्थेस, आर. (1972), मायथोलॉजीज़,पूर्वाक्त।
33. देखें, बोद्रेल, जे.(1994), सिम्युलेक्रा एंड सिम्युलेशन, यूनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन प्रेस, मिशिगन।
34. न्ये, डी. ई. (1994), अमेरिकन टेक्नोलॉजिकल सब्लाइम, द एमआईटी प्रेस, कैम्ब्रिज।
35. कैम्पबेल, जे. (1991), द मास्क्स ऑफ गॉड:क्रिएटिव मायथोलॉजी, पेनयुइन बुक्स, लन्दन, पृष्ठ-1-10.
36. जेमेसन, एफ. (1991), कल्चर: द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म. इन पोस्टमॉडर्निज्म, और, द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस, नार्थ कैरोलिना,पृष्ठ-1-54.

37. देखें, बासकॉम, डब्ल्यू. (1983), मालिनोव्स्की कंट्रीब्यूशन्स टू द स्टडी ऑफ फोकलोर, पूर्वोक्त।
38. देखें, मिडज़ली, एम. (1992), साइंस ऐज़ साल्वेशन: अ मॉडर्न मिथ, राउटलेज, न्यूयार्क, पृष्ठ-212-215.
39. देखें, लारेरी पर्टिंरा, आई. एक्स. (2022), गाडामेयर हिस्टोरिकली इफेक्टेड एंड इफेक्टिव कॉन्शियसनेस, डायलॉग, भाग-61, अंक-2.
40. डी.हॉरले, ए. एवं फीमेर, जे. एन. (1975), एन्यू इमेज ऑफ द साइक, द आर्कटाइपल सायकोलॉजी ऑफ जेम्स हिलमैन. क्रॉस करंट्स, भाग-25, अंक-3, पृष्ठ, 289-298.
41. कौंटी, ए. (2013), दे हैव आईज़ दैट दे माइट नॉट सी: वाल्टर बेंजामिन और एंड द ऑप्टिकल अनकॉन्शियस, लिटरेचर एंड थियोलॉजी, भाग-27, अंक- 4, पृष्ठ, 472-486.
42. लोरीनो, फिलिप एवं बेनोइट ट्रिकार्ड (2012), द बख्तिनियन थ्योरी ऑफ क्रोनोटोप (टाइम-स्पेस फ्रेम) एप्लाइड टू द ऑर्गनाइजिंग प्रोसेस, इन माइकेन शुल्ज़, और अन्य (सं), कंस्ट्रक्टिंग आइडेंटिटी इन एंड अराउंड ऑर्गनाइजेशन, ऑनलाइन ऑक्सफर्ड एकेडमिक,
<https://doi.org/10.1093/acprof:oso/9780199640997.003.0009>, 10 नवम्बर 2024 को देखा गया।
43. माचिन, एस. (2012), व्हाई, कॉमरेड? : रेमंड विलियम्स, ऑरवेल और स्ट्रक्चर ऑफ फीलिंग इन बॉयज़' स्टोरी पेपर्स. की वडर्स : अ जर्नल ऑफ कल्चरल मटीरियलिज़्म, भाग-10, पृष्ठ, 88-102.
44. ग्रे, जे. जी. (1957), हाइडेगर्स कोर्स : फ्रॉम ह्यूमन एक्सिस्टेंस टू नेचर. द जर्नल ऑफ फिलॉसफी, भाग-54, अंक- 8, पृष्ठ, 197-207.
45. जेनकिन्स, आर. (2000), डिसएन्चांटमेंट, एन्चांटमेंट एंड री-एन्चांटमेंट : मैक्सवेबर एट द मिलेनियम, मैक्सवेबर स्टडीज़, अंक-1, भाग-1, पृष्ठ, 11-32.
46. एलमोराज. (2022), डेरीडा एंड डिफरेंस : द टेक्स्ट, भाग-4, अंक-2, पृष्ठ, 19-30.
47. देखें, फ्रॉम, ई. (1969). एस्केप फ्रॉम फ्रीडम. एवॉन बुक्स, न्यूयार्क।
48. स्थोफ, एन एवं बॉब, पी. (2019), बर्नआउट सिंड्रोम एंड लोगोथेरेपी : लोगोथेरेपी ऐज़ यूज़फुल कांसेप्चुअल फ्रेमवर्क फॉर एक्सप्लानेशन एंड प्रिवेंशन ऑफ बर्नआउट, फ्रंटसाइकिएट्री, भाग-10, पृष्ठ-382.
49. ब्रिटानिका, टी. एडीटर्स ऑफ एन्साइक्लोपीडिया (2024), एनोमी, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, <https://www.britannica.com/topic/anomie>, 22 मार्च 2024 को देखा गया।

50. मेस्नी, ए. (1998), सोशियोलॉजी फॉर व्हूम? द रोल ऑफ सोशियोलॉजी इन रिप्लेक्सिव मॉडर्निटी, द कॅनेडियन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी, भाग-23, अंक-3-4, पृष्ठ-159-178.
51. डेटमर, डी. (2013), बैडफेथ, अंतर्गत, एस. चर्चिल और जे. रेनेल्ड्स (सं.), जीन-पॉल सार्त्र : की कॉन्सेप्ट्स, अक्यूमेन पब्लिशिंग, लन्दन, पृष्ठ 118-130.
52. पटनम, आर.डी. (1995). बोव्लिंग अलोन : अमेरिकाज डी क्लाइनिंग सोशल कैपिटल, जर्नल ऑफ डेमोक्रेसी, भाग- 6, अंक-1, पृष्ठ-65-78.
53. सिल्वा, एफ. जी. (2019), कॉलोनाइजेशन ऑफ द लाइफ वर्ल्ड, अंतर्गत, ए. एलेन और ई. मेंडिएटा(सं.), द कैम्ब्रिज हैबरमास लेक्सिकॉन, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, पृष्ठ-36-39.
54. लोकेटेली, एम. जी. एवं होल्ट, आर. आर. (1986), एंटीन्यूक्लियर एक्टिविज्म, साइकीक नॉबिंग, ऑर मेंटल हेल्थ, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ मेंटल हेल्थ, भाग-15, अंक-1-3, पृष्ठ-143-161.
55. बेक, यू.बॉस, डब्ल्यू. एवं लॉ, सी. (2003), द थ्योरी ऑफ रिप्लेक्सिव मॉडर्नाइजेशन: प्रोब्लेमैटिक, हाइपोथेसिस और रिसर्च प्रोग्राम, थ्योरी, कल्चर एंड सोसाइटी, भाग-20, अंक-2, पृष्ठ-1-33.
56. हॉकिंग, (2017), ह्युमन्स मस्ट लाइव अर्थ इन 100 इयर्स टू सर्वाइव, द इकनोमिक टाइम्स, 17 जनवरी, 2025 को देखा गया।
57. सिकिजोर, आर. (2020), द राइज ऑफ टेक्नो होमोसेपियंस, फोर्ब्स, 17 जनवरी, 2025 को देखा गया।

व्याकरणिक प्रविधि के रूप में अनेकान्तवाद

बलराम शुक्ल

आचार्य पाणिनि के बाद विकसित व्याकरण वाङ्मय की समृद्धि में जैन व्याकरणाचार्यों का महनीय अवदान है। पाणिनीय शास्त्र तथा पारम्परिक व्याकरणों का मुख्य रूप से आधार लेते हुए भी इन आचार्यों ने अपने व्याकरणों में अनेक नवीनताओं की उद्भावना की है।¹ पाणिनि के लगभग 1000 वर्ष बाद से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर चली आ रही जैन व्याकरणों की परम्परा ने भारत के भाषिक विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इन व्याकरणों की कुछ विशिष्टताएँ हैं जो उन्हें पारम्परिक व्याकरणों से भिन्न बनाती हैं। इनमें से कुछ विशेषताएँ इस प्रकार देखी जा सकती हैं, जैसे : सरलीकरण का प्रयत्न, विशदता, संग्रह की प्रवृत्ति, व्याकरण की प्रक्रिया को लघुतर बनाने की प्रवृत्ति, वैदिक भाषा के अन्वाख्यान का अभाव, अनेक नवीन शब्दों की रूपसिद्धि, परम्परा से भिन्न प्रविधियों का प्रयोग तथा जैन तत्त्वशास्त्र का अनुगमन। इन सभी विशेषताओं के मध्य प्रकृत वैयाकरण अपने ग्रन्थों में जैन वातावरण के निर्माण हेतु जैन धार्मिक अथवा आध्यात्मिक तत्त्वों एवं उदाहरणों का प्रयोग करते हैं। इन्हीं प्रयोगों के कारण इन व्याकरणों को 'जैन व्याकरण' की संज्ञा मिली है। इन प्रयुक्त तत्त्वों में अनेकान्तवाद प्रमुख तत्त्व है। जैन वैयाकरण अपने व्याकरणों के प्रारम्भ में ही शब्दों के अनुशासन के दौरान जैन तत्त्वशास्त्र के प्रमुखतम सिद्धान्त—'स्याद्वाद' का आश्रय लेने की घोषणा करते हैं।² जैनाचार्यों के व्याकरण प्रणयन की इस महत्त्वपूर्ण विशेषता के निहितार्थों का निरूपण इस आलेख में अभीष्ट है।

संस्कृत शास्त्रों की विस्तृत एवं समृद्ध परम्परा में हम यह देख पाते हैं कि दार्शनिक अपने विभिन्न प्रकार के मतों के समर्थन में व्याकरणशास्त्रीय व्युत्पत्तियों तथा अन्यान्य प्रविधियों का प्रचुर उपयोग करते हैं। 'व्याकरण शास्त्र सभी शास्त्रों का पार्षद (सहायक) है' यह बात भारतीय बौद्धिक परम्परा में सर्वमान्य है। भिन्न-भिन्न दार्शनिक तत्त्वों के व्याख्यान के

उन्मीलन—वर्ष 39, अंक 1, जनवरी-जून 2025

ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

प्रसङ्ग में आचार्यों ने अपने मतों के प्रतिपादन के लिए व्याकरण की विश्लेषणात्मक कोटियों का उपयोग एक प्रविधि के तौर पर किया है तथा इसे एक बड़े उपोद्बलक प्रमाण के रूप में माना है^१। इसके विपरीत शब्दों के विश्लेषण के प्रसङ्ग में हम वैयाकरणों को किसी एक दार्शनिक पक्ष या सिद्धान्त का आश्रय लेते हुए प्रायः नहीं देखते। इसका कारण सम्भवतः व्याकरण शास्त्र का सर्वपार्षदत्व ही है। व्याकरण शास्त्र सभी के द्वारा ग्राह्य होने के कारण नित्यत्व—अनित्यत्व आदि परस्पर एकान्तिक मतों में से किसी एक को नितान्त स्वीकार करके नहीं चल सकता है। लेकिन जैन व्याकरणों का अध्ययन करते हुए हमें एक विशेष तथ्य का निदर्शन प्राप्त होता है। वह यह है कि जैनाचार्य अपने व्याकरण शास्त्रीय अनुशासनों को भी जैन तत्त्वदर्शन के सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' पर आधृत करते हैं। हम आगे देखेंगे कि इसके अनेक कारणों में से सबसे प्रमुख कारण यह है कि व्याकरण शास्त्र की ही भाँति सर्वोपयोगी होने के कारण अनेकान्तवाद का सभी (एकान्तिक) वादों से अविरोध है।

अनेकान्तवाद तथा व्याकरण शास्त्र के स्वाभाविक सम्बन्ध को समझने के लिए पहले हमें समझना होगा कि जैन दर्शन के अनुसार अनेकान्तवाद क्या होता है? साथ ही यह भी जानना होगा कि इस सिद्धान्त को व्यक्त करने के लिए उपस्थापित किये गये भाषिक मत 'स्याद्वाद' का क्या स्वरूप है।

1. अनेकान्तवाद का स्वरूप

जैन दर्शन यह मानता है कि संसार की सारी वस्तुओं में अनन्त धर्म एक साथ उपस्थित होते हैं। 'अनेकान्त' शब्द इसी धारणा की ओर संकेत करता है। 'अनेकान्त' में स्थित 'अन्त' शब्द का अर्थ है— धर्म^२। किसी वस्तु में स्थित अनन्त धर्मों में से कुछ धर्म आपाततः विरोधी भी लग सकते हैं^३। चूँकि वस्तुएँ अनन्त धर्मों वाली होती हैं इसलिए उनमें आपाततः दिखने वाले किसी एक धर्म को विषय बनाकर, उनके सम्बन्ध में कोई निरपेक्ष अथवा एकान्त कथन नहीं किया जा सकता कि 'उनका स्वरूप बस इसी प्रकार का है।' इस प्रकार का कथन अपूर्ण, असत्य एवं दूषित होगा, क्योंकि वह केवल एक धर्म पर टिका होगा। अब समस्या यह आती है कि अनन्त धर्म वाली किसी भी वस्तु का कथन किस प्रकार किया जाए कि इस वाचिक असत्य (मृषावाद) से बचा जा सके। वक्ता अथवा विश्लेषक प्रसंगविशेष में किसी वस्तु के अनन्त

धर्मों का कथन नहीं कर सकता, क्योंकि वह न तो वस्तु के अनन्त धर्मों को जानता है और न ही उसके पास इतने विस्तृत वर्णन का अवकाश ही होता है। इस स्थिति में जैन विचार पद्धति में किसी वस्तु के बारे में कथन की निरापद शैली का आविष्कार किया गया है। वह शैली यह है कि जब भी किसी वस्तु को उसमें स्थित किसी विशिष्ट धर्म की दृष्टि से वर्णित किया जाए तो 'जैसा मैं कह रहा हूँ वैसा वह वस्तु अपने किसी धर्मविशेष की अपेक्षा से है, निरपेक्षतया नहीं', यह अवश्य कहा जाए। इस कथन शैली का लाभ यह होगा कि हम वस्तु के उस विशेष धर्म का कथन कर भी पायेंगे और उसमें विद्यमान शेष (अनन्त) धर्मों की स्थिति का निषेध भी नहीं होगा। किसी वस्तु के कथन की निरापद एवं न्याय्य शैली इसके अतिरिक्त और नहीं हो सकती। जैन तत्त्वज्ञों ने इस ढंग से वस्तु के वर्णन के लिए कथन की जिस शैली का विकास किया है उसे 'स्याद्वाद' कहा जाता है। इसके लिए वे सत्ता, असत्ता तथा अवक्तव्यता इन तीन स्थितियों के सप्तविध सम्भावित संयोजनों का वर्णन 'स्यात्' पद का प्रयोग करके करते हैं। इसे वे सप्तभङ्गी नय का भी नाम देते हैं। इस नय में प्रयुक्त 'स्यात्' का अर्थ सम्भावना अथवा संशय नहीं है, बल्कि इसका अर्थ है— 'किसी अपेक्षा से'—'कथंचित्'। इस कथन शैली की सहायता से कथ्य दोषविहीन हो जाता है और बोलने वाला भी मृषावाद से बच जाता है। इसी कारण जैन तत्त्वदर्शियों ने यह मर्यादा बनायी है कि किसी भी वस्तु के विनिश्चय के प्रसङ्ग में किये जाने वाले कथन स्याद्वाद की प्रणाली से युक्त होने ही चाहिए—

वस्तुविनिश्चयपटुना स्याद्वादेनैव देशना देया ।

इत्युत्सर्गपरिस्थितिरपरा त्वपवादमर्यादा ।। (मार्गपरिशुद्धि 4^१)

जैन दर्शन के अनुसार वस्तुओं का ज्ञान 'प्रमाण' तथा 'नय' की प्रणाली से किया जा सकता है— प्रमाणनयैरधिगमः (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र 1.6)। 'नय' अंशग्राही होता है जबकि 'प्रमाण' सर्वग्राही। स्याद्वाद के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले सात भंगों को 'नय' इसी कारण से कहा जाता है, क्योंकि वे वस्तु के एक-एक अंश का प्रमुखतया ज्ञान कराते हैं। अनेकान्तवाद को ठीक-ठीक समझने के लिए सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि कोई भी वस्तु अनन्त धर्मों वाली कैसे है? जैन दार्शनिकों ने इस बात को बड़े प्रयत्नपूर्वक सिद्ध किया है। अनेकान्त का उपागम जैन दर्शन के प्रत्येक प्रतिपादन में गुँथा हुआ है। उनके अनुसार वस्तु अथवा द्रव्य न तो बिलकुल

नित्य है न ही बिलकुल अनित्य। वह तो परिणामी—नित्य है। इसका मतलब है कि किसी वस्तु में उत्पाद, नाश तथा नित्यता तीनों एक साथ ही विद्यमान होते हैं। ये तीनों अवस्थाएँ परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के साथ रहने वाली हैं। एक दूसरे के बिना इनकी सत्ता असम्भव हैं। वस्तु (द्रव्य) धर्मी (धर्मवाला) अर्थात् धर्मों का आधार है। उसमें रहने वाले धर्म दो प्रकार से बाँटे जा सकते हैं— गुण तथा पर्याय⁹। किसी द्रव्य में विद्यमान सामान्य धर्म को गुण कहते हैं। ये धर्म उस द्रव्य के युगपत्कालभावी हैं। अर्थात्, जब तक द्रव्य रहता है तब तक ये धर्म भी रहते हैं। गुण का स्थान जैन दर्शन में वहीं है जो न्याय आदि दर्शनों में जाति का है। गुण ही एक द्रव्य को अन्य द्रव्यों से अलग करने वाले (व्यतिरेकी) होते हैं। गुण रूपी धर्म द्रव्य के लिए इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उन्हें बहुत बार द्रव्य ही कह दिया जाता है¹⁰। पर्याय किसी द्रव्य में उत्पन्न तथा विनष्ट होने वाले अर्थात् क्रम से होने वाले धर्मों को कहते हैं¹¹। ये विशेष होते हैं, अन्वयी होते हैं तथा द्रव्य के साथ कुछ ही समय तक रहने वाले (अयुगपत्कालभावी) होते हैं। वस्तु में विद्यमान इन दो प्रकार के धर्मों को ध्यान में रखते हुए उसके सम्यक् ज्ञान के लिए जैन दार्शनिक दो प्रकार के नयों अर्थात् दृष्टियों का उपयोग करते हैं— निश्चय नय तथा व्यवहार नय। वस्तु के गुण विषयक सत्य स्वरूप को जानने के लिए निश्चय नय का प्रयोग करते हैं, जिसे द्रव्यार्थिक नय भी कहते हैं; जबकि वस्तु के परिवर्तित होने वाले अभूतार्थ स्वरूप को बताने के लिए व्यवहारनय का प्रयोग किया जाता है। व्यवहार नय का ही दूसरा नाम पर्यायार्थिक नय भी है।

2. द्रव्य की अनेकधर्मात्मकता

गुण तथा पर्याय रूप धर्मों से संवलित होने के कारण तथा कालत्रय की अपेक्षा से नाश—उत्पाद—स्थिति वाला (त्रयात्मक) होने के नाते द्रव्य अनेक धर्मात्मक सिद्ध होता है। वस्तु में धर्मों की अनन्तता सिद्ध करने का जैनों के पास इससे भी कारगर आधार है और वह है— पररूप से व्यावृत्ति। वस्तुतः वस्तुओं के पर्याय रूप धर्म दो प्रकार के होते हैं— स्वपर्याय तथा परपर्याय। स्वपर्याय रूप धर्म का वस्तु के साथ अस्तित्व रूप सम्बन्ध होता है, जबकि परपर्याय का वस्तु के साथ नास्तित्व रूप सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए घट स्वरूप से घट तो है ही साथ ही उसमें स्वरूपेण पट का अभाव भी है अर्थात् वह पट से भिन्न भी है। पट के साथ उसका अन्योन्याभाव भी उसके

स्वरूप को सम्यक् रूप से प्रकाशित करने के लिए आवश्यक है, इसलिए उसे भी वस्तु का धर्म माना जाना चाहिए। स्वरूप से स्थिति के अलावा पररूप से व्यावृत्ति भी वस्तु का स्वभाव है। अब देखा जाए तो किसी भी पदार्थ से भिन्न पदार्थों की संख्या तो संसार में अनन्त है। उनके साथ नास्तित्वा रूपी परपर्याय को भी वस्तुओं का स्वाभाविक धर्म मान लेने से वस्तुएँ अनन्तधर्मात्मक सिद्ध हो जाती हैं¹²। वस्तुओं की इस अनेकधर्मात्मकता को सिद्ध करने के लिए जैन तत्त्वज्ञ लोक से भी प्रमाण देते हैं। उनके अनुसार जैसे एक ही व्यक्ति में भिन्न भिन्न व्यक्तियों की अपेक्षा से पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व, भागिनेयत्व इत्यादि धर्मों का व्यवहार माना जाता है उसी प्रकार एक वस्तु में भी अलग अलग अपेक्षाओं से विभिन्न धर्मों का माना जाना भी तर्क से विपरीत बात नहीं है¹³।

वस्तुओं की अनन्तधर्मात्मकता स्वभावसिद्ध है, इसलिए उन्हें एकान्त रूप से नित्य कहना अथवा एकान्त रूप से अनित्य कहना न्यायसंगत नहीं है। अनैकान्तिकता का यह गहरा आग्रह जैनों में सम्भवतः वैदिक नित्यत्ववाद तथा बौद्ध अनित्यत्ववाद की सीमाओं को देखते हुए दोनों के सामञ्जस्य के रूप में विकसित हुआ होगा¹⁴। वस्तुएँ निरपेक्ष अथवा एकान्त नहीं हैं। उनको अनैकान्तिक मानते हुए इसी प्रकार कहा भी जा सके, इसके लिए जैनदर्शन में एक विशिष्ट कथन शैली का विकास भी किया गया है। इस शैली को स्याद्वाद कहते हैं। जैन साधुओं को यह निर्देश है कि उन्हें वाक्य का प्रयोग करते हुए बहुत सावधानी बरतनी चाहिए¹⁵। इसके लिए विभज्यवाद का आश्रय लिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि व्याख्यान के प्रसंग में वस्तुओं के विभिन्न धर्मों को विभाजित करके व्याकृत करना चाहिए। यही विभज्यवाद कालान्तर में स्याद्वाद के रूप में विकसित हुआ¹⁶। स्याद्वाद की कथन प्रणाली में सप्तभंगी नय का प्रयोग किया जाता है। यह इस प्रकार है— 1. स्यादस्ति एव 2. स्यान्नास्ति एव 3. स्यादवक्तव्यमेव 4. स्यादस्ति च नास्ति चैव 5. स्यादस्त्यवक्तव्यमेव 6. स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव 7. स्यादस्ति च नास्त्यवक्तव्यमेव¹⁷।

वस्तुओं की अनेकान्तता और उसके अभिलाप हेतु स्याद्वाद की आवश्यकता पर विचार करने के बाद हम देखेंगे कि जैनदर्शन में शब्द का स्वरूप क्या है और उसके अनुशासन के लिए स्याद्वाद किस प्रकार अपरिहार्य है। 'स्यात्' एक विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय¹⁸ है। यह अव्यय जिस

वस्तु के साथ लगता है उसकी अनेकान्तता को द्योतित करता है¹⁹। 'स्यात्' का अर्थ है 'कथंचित्' अर्थात् 'किसी अपेक्षा विशेष के कारण'। किसी अपेक्षा विशेष से जब 'स्यात्' का प्रयोग करके वस्तु के एक धर्म का मुख्यतया कथन किया जाता है तो उस कथन में वस्तु के शेष धर्मों के अस्तित्व की सम्भावना भी सुरक्षित रहती है। इस प्रकार 'स्यात्' अव्यय अनेकान्तता का द्योतन करा सकने में समर्थ हो पाता है।

भाषा-दर्शन भारतीय दर्शनों का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसके अन्तर्गत शब्द की नित्यता तथा अनित्यता की चर्चा बड़े ही व्यापक रूप से की गयी है। भारतीय दर्शनों में से कुछ तो शब्द को द्रव्य (जैसे-वैयाकरण, सांख्य तथा प्राभाकर मीमांसक) तथा कुछ गुण (जैसे न्याय वैशेषिक, भाट्ट मीमांसक) मानते हैं। इन दोनों अतिवादों के बीच जैनों ने समन्वयात्मक अनेकान्त दृष्टि का उपयोग करते हुए शब्द को द्रव्य एवं गुण दोनों माना है। वे शब्द को पुद्गल रूप द्रव्य का पर्यायविशेष मानते हैं। द्रव्य और पर्याय की अभिन्नता को मानने की दृष्टि से वे सापेक्षिक द्रव्यवादी²⁰ हैं। किन्तु चूँकि पर्याय वस्तु का अनित्य धर्म है इसलिए वे सापेक्षिक रूप से गुणवादी भी कहे जा सकते हैं²¹। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार शब्द स्कन्धों से उत्पन्न होता है और स्कन्ध परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होते हैं। जब इन परमाणुओं में संघर्ष होता है तो शब्द उत्पन्न होता है²²। स्कन्धात्मक पुद्गल के अतिरिक्त परमाणु-रूपी पुद्गल²³ भी शब्द के रूप में परिणाम को प्राप्त होते हैं। जैनों के इस मत को आचार्य भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय (1.110) में उद्धृत किया है—

अणवः सर्वशक्तित्वात् भेदसंसर्गवृत्तयः ।

छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः ॥

यह तो शब्द का पहला स्वरूप हुआ— ध्वन्यात्मक। इस स्थिति में वह पुद्गल द्रव्य का पर्याय है। लेकिन अपने अर्थबोध के रूप में वह आत्मा का पर्याय है। इस प्रकार उसकी अभिव्यक्ति तो पौद्गलिक (Material) है लेकिन उसका अर्थ-अंश ज्ञानात्मक है। जहाँ तक व्याकरणिक प्रक्रियाओं का प्रश्न है वहाँ शब्द के पौद्गलिक रूप अर्थात् भौतिक संरचना का ही उपयोग किया जाता है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में 1.1.17 सूत्र की व्याख्या तत्त्वप्रकाशिका (बृहद्वृत्ति) में इंगित किया है कि वर्णों का उद्भव पुद्गलों के संघात से होता है। इसकी व्याख्या बृहन्न्यास में उन्होंने शब्द

निष्पत्ति की समस्त प्रक्रिया की विवेचना की है²⁴। इस प्रकार सिद्ध होता है कि शब्द में द्रव्यत्व भी है तथा वह भी अन्यान्य द्रव्यों की भाँति अनन्तधर्मों से युक्त है। ऐसी स्थिति में शब्दों का अनुशासन करने वाले व्याकरणशास्त्र और वैयाकरण के लिए आवश्यक है कि उनका ठीक-ठीक अनुशासन कर पाने के लिए अनेकान्तवाद का आश्रय ले²⁵।

सभी जैन वैयाकरण प्रायः जैन मुनि रहे हैं। उन्होंने अपनी सभी व्याकरणात्मक उक्तियों को एकान्तता के दोष से बचाने के लिए शास्त्र के प्रारम्भ में ही अनेकान्तवाद के आश्रयण की घोषणा से सम्बन्धित सूत्रों जैसे—सिद्धिस्याद्वादात्, सिद्धिः अनेकान्तात् इत्यादि की रचना कर दी है। इन सूत्रों को वे अधिकार सूत्र कहते हैं। अधिकार सूत्र वह होता है जो अपने बाद में आने वाले अधिकृत सभी सूत्रों में उपस्थित होता है²⁶। यह अधिकार सूत्र जैन व्याकरणों का सबसे बड़ा अधिकार सूत्र माना जाता है। शास्त्र के शुरु में ही आने के कारण यह समस्त शास्त्र को व्याप्त कर लेता है²⁷। अधिकार के इस प्रकार को अर्थाधिकार²⁸ कहते हैं। यह अधिकार सभी सूत्रों के पास जाने के लिए अधिकृत तो है ही, परन्तु साथ ही यह प्रत्येक सूत्र के अर्थ के साथ मिलकर एकवाक्यता को प्राप्त करके विशिष्ट अर्थ भी प्रदान करता है। इस प्रकार जैन व्याकरणों के सभी (दस प्रकार के) सूत्र²⁹ तथा उनके कथ्य स्याद्वाद की परिधि में आ जाते हैं। जैनेन्द्रव्याकरण के लघुवृत्तिकार सोमदेवसूरि का कहना है कि व्याकरण शास्त्र के शुरु में ही इस अधिकार सूत्र का निर्देश आवश्यक है, क्योंकि 'अनेकान्तवाद' व्याकरण ही नहीं अपितु हमारे समस्त जागतिक व्यवहार के लिए इतना अनिवार्य है कि इसकी सहायता के बिना तो हमारी झपकी पलकें खुल भी नहीं सकती³⁰।

जैन वैयाकरणों ने दर्शन के इस सिद्धान्त को व्याकरण में प्रयुक्त क्यों किया ? इसके कारणों का उन्होंने यत्र तत्र विवेचन भी किया है। उनके अनुसार शब्द में एक साथ अनेक धर्म रहते हैं, जैसे नित्यता—अनित्यता, सत्ता—असत्ता, सामान्य—विशेष, अभिलाष्यता—अनभिलाष्यता, भेद—अभेद³¹ आदि³²। यदि हम इस प्रकार की वस्तुस्थिति को न मानें तो व्याकरण शास्त्र की बहुत सारी प्रक्रियाएँ सम्भव ही नहीं हो पाएँगी। जैन वैयाकरणों ने उन अनेक विप्रतिपत्तियों की सूची देकर उनकी विस्तृत चर्चा की है जो शब्द के स्वरूप के प्रति एकान्तिक तथा निरपेक्ष दृष्टि रखने पर प्रसक्त हो जाएंगी और अनेक व्याकरणिक कार्य सर्वथा असम्भव हो जाएंगे।

शब्द तथा उससे सम्बन्धित और आनुषंगिक विषय— जैसे शब्द का स्वरूप, अर्थ का स्वरूप, अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध इत्यादि भारत के बौद्धिक इतिहास के चर्चित विषयों में से रहे हैं। भाषा दर्शन भारतीय दर्शनों की भाषा रही है, इसलिए तथा अन्य अनेक कारणों से पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारत में विचार के उषा काल से ही 'शब्द' दार्शनिक विवेचना के केन्द्र में रहा है³³। शब्द के विषय में जैनों के अलावा अधिकांश सम्प्रदायों के मत प्रायः एकान्तिक दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए शब्द की निरन्तरता एवं स्थिति को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ लोग (वैयाकरण, मीमांसक) शब्द को नित्य अर्थात् हमेशा रहने वाला स्वीकार करते हैं तो कुछ लोग (नैयायिक) शब्द को जन्य, कार्य अर्थात् नष्ट होने वाला बताते हैं। कुछ शब्द को एक तथा कुछ अनेक मानते हैं³⁴। शब्द के विषय में उपर्युक्त प्रकार का दृष्टिवैभिन्न्य दार्शनिकों के अलग-अलग दार्शनिक मन्तव्यों पर आधारित है³⁵।

शब्द को नित्य मानने वाले मतवादियों में वैयाकरण एवं मीमांसक हैं। वैयाकरणों के अनुसार सूत्रों के प्रणयन का आधार ही है शब्द की नित्यता। यदि शब्द नित्य न हो तो उनके साधुत्व असाधुत्व के ज्ञान का प्रयत्न विफल हो जायगा³⁶। व्याकरण में परम प्रमाण समझे जाने वाले पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि, तीनों ने इस मुख्य प्रतिज्ञा को शब्दशः अथवा तात्पर्यशः कहा है³⁷। इसके विपरीत नैयायिक शब्द को वागवयवों द्वारा निष्पन्न मानते हैं, इसलिए उसकी अनित्यता भी स्वीकार करते हैं। जैन वैयाकरण इन सभी दृष्टियों को एकांगी मानते हैं। उनके अनुसार कुछ अपेक्षाओं से शब्द नित्य है और कुछ की अपेक्षा से अनित्य। इसी प्रकार व्याकरण के प्रत्येक प्रसंग में जैन वैयाकरणों को अनेकान्तवाद ही अभिप्रेत है। आगे कतिपय प्रसंगों की चर्चा की जा रही है जहाँ जैन वैयाकरणों ने अनेकान्तवाद को अनिवार्य माना है।

3. शब्दों का ज्ञान तथा उनकी व्याकरणिक प्रक्रिया

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार अनेकान्तवाद को स्वीकार किये बिना न तो शब्दों की व्याकरणिक सिद्धि हो पायेगी न ही उनका ज्ञान³⁸। इसके साथ ही व्याकरण शास्त्र के बनाने का कोई प्रयोजन भी नहीं रह जाएगा। इस नाते जो समस्या उत्पन्न होगी वह भाषा के व्युत्पादन तथा सम्प्रेषण दोनों पक्षों को व्याहत करेगी। हैमव्याकरण पर हैमलघुप्रक्रिया के लेखक विनयविजयगणि

ने इसे इस तरह समझाया है। यदि शब्दों को बिलकुल नित्य मान लिया जाएगा तो हम उनके उच्चारण की क्रिया को समर्थित नहीं कर पाएँगे, क्योंकि ज्यों ही स्थान-करण-प्रयत्न इत्यादि के द्वारा उनकी उत्पत्ति मानी जाएगी वैसे ही शब्द अनित्य सिद्ध हो जाएगा, क्योंकि उत्पन्न वस्तु तो नित्य नहीं होती³⁹। ऐसा होने पर शब्दनित्यत्व का सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा। अगर नित्यत्ववादी इस समस्या से उबरने के लिए कहे कि "उच्चारण द्वारा शब्द उत्पन्न नहीं होते"। ऐसा मानने पर अनुच्चरित शब्द सुनाई ही नहीं देंगे, फलतः उनका ज्ञान ही नहीं होगा। अगर इस आक्षेप से बचने के लिए नित्यत्ववादी यह कहे कि शब्दों के ज्ञान के लिए उनका उच्चरित होना आवश्यक नहीं है, तो फिर ऐसी स्थिति में हमें शब्दों का ज्ञान निरन्तर (बिना उच्चारण के ही) होने लगेगा, लेकिन ऐसा नहीं होता। चूँकि उच्चारण के बिना शब्दों का ज्ञान नहीं होता, इसलिए शब्दों को केवल नित्य मानने से शब्दों का ज्ञान ही सम्भव नहीं होगा। प्रकृति प्रत्यय विभाग पूर्वक उनकी व्युत्पत्ति करना जो व्याकरण का दायित्व है उसका निर्वाह तो बहुत दूर की बात है। इसके अतिरिक्त शुद्ध तथा अशुद्ध सारे शब्द अगर बिलकुल नित्य हों तो व्याकरण शास्त्र की संरचना का प्रयास भी व्यर्थ सिद्ध होगा। कारण कि जो वस्तु हमेशा से नित्य है उसे निष्पन्न क्या करना⁴⁰ ?

शब्द को बिलकुल अनित्य मानने पर भी भाषा के संरचनात्मक एवं संज्ञानात्मक दोनों प्रयोजन सिद्ध न हो सकेंगे। 'घट' आदि शब्दों की उच्चारण प्रक्रिया एक-एक वर्ण के क्रम से होती है। उनके नश्वर होने के कारण हम 'घ' का उच्चारण करने के बाद जब 'ट' का उच्चारण करेंगे तब तक 'घ' नष्ट हो चुका होगा। इस स्थिति में 'घट' शब्द का एकीभाव ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। एक समूह में गृहीत न हो सकने के कारण इस उच्चारण क्रिया से घट वस्तु का ज्ञान भी नहीं हो सकेगा। इसी तरह केवल अनित्यत्व को मानने वाले पक्ष में शब्द की व्याकरणिक प्रक्रिया भी नहीं हो सकेगी। क्योंकि उच्चारण के बाद तुरन्त नष्ट प्रकृति को प्रत्यय से जोड़ना ऐसे ही व्यर्थ होगा जैसे किसी शव का श्रृंगार करना। इस समस्या से बचने के लिए वर्णों को अनित्य मानने वाला अगर यह कहे कि "वर्ण तो संस्कार रूप से मानस में स्थित रहते ही हैं"। ऐसा मानने पर उन्हीं के सिद्धान्त की हानि होगी। क्योंकि ऐसा मानना एक तरह से वर्णों को नित्य स्वीकार करना ही हो जाएगा। इस प्रकार उपर्युक्त नित्यत्व पक्ष की ही भाँति इस पक्ष में भी

व्याकरण शास्त्र का निर्माण निष्फल हो जाएगा⁴¹। हैमबृहन्न्यास की आनन्दबोधिनी नामक टीका के लेखक का मानना है कि शब्द को अनित्य स्वीकार करने वालों के मत में शब्द की निष्पत्ति तो हो जाएगी लेकिन उनका ज्ञान नहीं हो पाएगा, नित्य मानने वालों के पक्ष में शब्द का ज्ञान तो हो जाएगा लेकिन उनका व्याकरण संस्कार नहीं हो पाएगा। अनेकान्तवाद का आश्रय लेने पर दोनों काम सम्भव हो पाएंगे⁴²।

ऐकान्तिक मतों में उपर्युक्त प्रकार के अनिष्ट की आशंका होने पर हमें अनेकान्तवाद की शरण लेनी पड़ेगी। इसमें द्रव्यार्थिक नय से शब्द को नित्य तथा पर्यायार्थिक नय से शब्द को अनित्य स्वीकार किया गया है। इसे स्वीकार करने पर शब्द का ज्ञान और उसकी निष्पत्ति दोनों यथायोग्य सम्भव हो पायेंगे⁴³।

4. व्याकरण की वैकल्पिक व्यवस्थाएँ

व्याकरण शब्द के विस्तृत प्रयोगक्षेत्र को अपना विषय बनाता है⁴⁴। उसमें एक शब्द के कुछ स्वनिक विकल्पों के साथ दो या दो से अधिक रूप भी बन जाते हैं। इनके लिए वैयाकरण बहुत सी वैकल्पिक अथवा बाहुलक नियमों की व्यवस्था करते हैं, जिसके आधार पर शब्द के विविध वैकल्पिक रूपों की सिद्धि होती है। यदि शब्द के विषय में अनेकधर्मात्मक स्याद्वाद की दृष्टि न रखी जाए तो एक ही शब्द के इतने सारे रूपों का समर्थन सम्भव नहीं होगा— किञ्च वैयाकरणानां स्याद्वादसमाश्रयणमेव शरणमन्यथा विकल्पबाहुलकादिनिरूपणं दुर्घटः। (हैमकौमुदी 1.1.2, पृ. 6)

ध्यातव्य है कि पाणिनीय व्याकरण परम्परा में सूत्र 6 प्रकार के स्वीकार किये गये हैं। इस गणना में विकल्प सूत्रों का परिगणन नहीं है⁴⁵। इसके समान्तर जैन वैयाकरणों ने 10 प्रकार के सूत्रों का परिगणन किया है तथा उसमें विकल्प बोधक सूत्रों को भी स्थान दिया है⁴⁶। इस सूची में विकल्प सूत्रों को सम्मिलित करने का कारण सम्भवतः शब्दानुशासन में अनेकान्तवाद सिद्धान्त की अनिवार्यता को स्फुट करना रहा हो। ध्यातव्य है कि जैन वैयाकरणों ने विकल्पविधायक प्रायः सभी सूत्रों को अपने व्याकरण में स्थान दिया है। “अनेकान्तवाद के द्वारा विकल्पादि की सिद्धि होती है” — बस इतना कह कर छोड़ नहीं दिया गया है। कारण यह है कि नियमों को उद्दिष्ट करके उनका प्रपंच किया जाना भी अवबोध के लिए आवश्यक होता है।

5. सामानाधिकरण्य

दो शब्दों में जब सामानाधिकरण्य बताना होता है तो उस समय हमें अनेकान्त की दृष्टि का आश्रय लेकर उन दोनों के मध्य भेद और अभेद दोनों मानने होंगे। भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्दों का एक अर्थ को कहना सामानाधिकरण्य है। भेद या अभेद में से किसी एक पक्ष का एकान्तिक दृष्टि से आश्रय लेकर हम भाषा में सामानाधिकरण्य के प्रयोगों को संगत नहीं कर पाएंगे। उदाहरण के लिए 'नीलम् उत्पलम्' इस अभिव्यक्ति में, 'नीलम्' तथा 'उत्पलम्' इन दोनों में कुछ अंशों में अभेद भी मानना होगा। अगर दोनों के बीच अत्यन्त भेद मानेंगे तो 'घटः' 'पटः' आदि बिलकुल भिन्न पदार्थों की तरह वे किसी एक संश्लिष्ट अर्थ को नहीं बता पाएंगे। साथ ही, अगर दोनों को अत्यन्त अभिन्न भी मानें तो भी सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि सामानाधिकरण्य के लिए पदार्थों में कुछ भेद का होना आवश्यक होता है। अत्यन्त अभिन्न दो वस्तुओं में यदि सामानाधिकरण्य होता तो 'नीलः घटः' की तरह 'नीलं नीलम्' इस तरह की अभिव्यक्ति भी भाषा में मान्य होती, जो कि नहीं होती है— तयोश्चात्यन्तभेदे घटपटयोरिव नैकत्र वृत्तिः, नाप्यत्यन्तभेदे भेदनिबन्धनत्वात् तस्य। न हि भवति नीलं नीलमिति। (हैमबृहन्न्यास 1.1.2, पृ. 10)। इसके अतिरिक्त यदि नील और उत्पल दोनों एक ही (अभिन्न) हों अर्थात् एक ही अर्थ को देने लग जाएँ तो 'नीलम्' के साथ 'उत्पलम्' का प्रयोग ही व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि 'उत्पलम्' भी 'नीलम्' के ही अर्थ को देगा। एक ही अर्थ में दो शब्दों का प्रयोग करना तर्कसंगत नहीं है (उक्तार्थानामप्रयोगः)।

6. विशेष्य-विशेषणभाव

इसी प्रकार विशेषण एवं विशेष्यवाची शब्दों के मध्य सम्बन्ध को लेकर भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ दोनों को भिन्न तो कुछ उन्हें परस्पर अभिन्न मानते हैं। इस सम्बन्ध में हेमचन्द्र का कहना है कि "नीलः घटः" में यदि 'नील' और 'घट' दोनों को एक दूसरे से बिलकुल अलग स्वीकार किया जाएगा तो उनमें परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव नहीं हो पाएगा, ऐसे ही जैसे 'घड़ा' और 'कपड़ा' एक दूसरे के विशेषण या विशेष्य नहीं बन पाते। इसी प्रकार इन यदि दोनों में भेद का बिलकुल अभाव माना जाए तो भी विशेषण-विशेष्य भाव संगत नहीं हो पायेगा, जैसे एक 'घटः' शब्द दूसरे 'घटः' शब्द का विशेषण नहीं हो सकता। अतः विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध वाले भाषिक आर्थ सम्बन्ध को समर्थित करने के लिए आवश्यक है कि अनेकान्त

दृष्टि का आश्रय लिया जाए तथा इन्हें किसी अपेक्षा से भिन्न और अन्य अपेक्षा से अभिन्न माना जाए—

विशेषविशेष्ययोर्नितान्तभेदाङ्गीकारे घटपटयोरिव विशेषण—
विशेष्यभावाभावः स्यादेवमेव, तयोर्नितान्तभेदाङ्गीकारे घटो घट इत्यादिवद्
विशेषणविशेष्यभावाभावः स्याद्, विशेषणविशेष्यस्य भेदाभेदनिमित्तकत्वात्
इति कथञ्चिद् विशेषणं कथञ्चिद् विशेष्यत्वमित्येवंरूपः स्याद्वादः
समाश्रयणीयः। (आनन्दबोधिनी 1.1.2, पृ.)

विशेषण तथा विशेष्य को अत्यन्त अभिन्न नहीं माना जा सकता। क्योंकि एक ही वस्तु अपने द्वारा ही विशेषित होकर विशेष्य नहीं बन सकती। और जब वह विशेष्य नहीं बन सकती तो साथ ही विशेषण भी नहीं बन सकती, क्योंकि विशेषण विशेष्य की अपेक्षा से ही विशेषण बन पाता है। साथ ही विशेषण को विशेष्य से नितान्त भिन्न भी नहीं मान सकते। अगर विशेषण विशेष्य में कोई सम्बन्ध ही न हो तब तो कोई भी वस्तु किसी की भी विशेषण हो सकती है—

तथैकं वस्तु सदेवेति नियम्यमाने विशेषणविशेष्यभावाभावः।
विशेषणाद्विशेष्यं किञ्चिदर्थान्तरभूतमभ्युपगन्तव्यम्। अस्तित्वं चेह विशेषणम्,
तस्य विशेष्यं वस्तु तदेव स्यादन्यदेव वा। न तावत् तदेव, न हि तदेव तस्य
विशेष्यं भवितुमर्हति, असति च विशेष्ये विशेषणत्वमपि न स्याद्, विशेष्यं
विशिष्यते येन तद् विशेषणमिति व्युत्पत्तेः। अथान्यत्, तर्ह्यन्यत्वाविशेषात्
सर्वं सर्वस्य विशेषणम्। (हैमबृहन्न्यास पृ. 8, पंक्ति—30—37)

7. अर्थ का स्वरूप

भारतीय शब्द दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अर्थ (एवं शब्द) की सत्ता को बाहर माना जाए या अन्दर। वैयाकरण शब्द एवं अर्थ दोनों की अन्तरङ्ग सत्ता मानते हैं, जबकि नैयायिक दोनों की स्थिति को बाह्य मानते हैं। वैयाकरणों के अनुसार 'घड़ा' 'कपड़ा' आदि बाहरी वस्तुएँ 'घट' 'पट' आदि शब्दों के अर्थ नहीं हैं, बल्कि उन बाहरी वस्तुओं का मानसिक सम्प्रत्यय ही अर्थ हैं। वाक्यपदीय के वाक्यकाण्ड (का.सं. 119—142) में 12 प्रकार के पदार्थों की चर्चा करते हुए भर्तृहरि ने वैयाकरणों के मत को निम्नवत् व्यक्त किया है— यो वार्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः। स बाह्यं वस्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते॥ वही—132॥

(अर्थात्, कुछ विद्वानों (वैयाकरणों) के अनुसार अर्थ की सत्ता शब्द की तरह ही आन्तरिक अर्थात् मानस में होती है। उसी आन्तरिक अर्थ को बाहरी पदार्थ के साथ भ्रमवश एक मान लिया जाता है— इसे ही अर्थ कहते हैं। उपयोगिता के कारण यह भ्रम स्वाभाविक रूप से हो जाता है, क्योंकि संसार के कार्यों का सम्पादन आन्तरिक अर्थ से तो हो नहीं सकता इसलिये बाहर स्थित पदार्थ के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ देते हैं और उसे ही शब्द का अर्थ कह देते हैं।)

हेमचन्द्र ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के मतों को एकांगी मानते हुए नामसंज्ञा विधायक सूत्र अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम (1.1.27) की व्याख्या करते हुए बृहन्न्यास में पदार्थ को आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार का माना है। हेमचन्द्र की यह दृष्टि अनेकान्तवाद से प्रेरित है—“स चाभिधेयलक्षणोऽर्थो द्विविधः—अन्तरङ्गो बहिरङ्गश्च। अन्तरङ्गो बुद्धिस्वरूपात्मकः, तद्विषयो बहिरङ्गोऽर्थः, स उभयोऽपीहाश्रीयते, विवक्षातश्च गुणप्रधानभावः। (बृहन्न्यास 1.1.27, पृ.35, पं. 55—57”)

उनके अनुसार शब्द के बाह्य तथा आन्तर दोनों प्रकार के अर्थ अभीष्ट हैं। व्यवहार में जिस भी अर्थ की विवक्षा होती है वही मुख्य हो जाता है और शेष गौण रह जाता है। भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीयम् (2.130) में इस प्रकार के मत की ओर संकेत किया है।

उपर्युक्त अनेकान्तवादी दृष्टिकोण को उपपन्न करते हुए हेमचन्द्र ने बौद्धार्थवादियों के एकान्तिक मत की अवतारणा की है तथा उसका खण्डन किया है। सबसे पहले हेमचन्द्र ने उनके पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं—

(क) जो विद्वान् अर्थ को बुद्धिगत मानते हैं वे प्रायः अर्थ (तथा शब्द) की नित्यता को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शब्द तथा अर्थ तभी नित्य हो सकते हैं जब उन्हें अन्तरंग माना जाए। अर्थ यदि बुद्धि में स्थित न होता तो सामने विषय के उपस्थित नहीं रहने पर भी शब्द बोलने पर उसकी प्रतीति नहीं हो पाती। गाय के सामने नहीं रहने पर भी ‘बैल पैदा हो गया’ या ‘बैल मर गया’ आदि अभिव्यक्तियों का अर्थ तो हम ले ही पाते हैं⁴⁸।

(ख) इसके अतिरिक्त लाक्षणिक प्रयोगों में हम वस्तु के सामने रहते हुए भी उसके लिए वाचक शब्द का प्रयोग न करके किसी अन्य शब्द का प्रयोग करते हैं और उसका अर्थ आता है, जैसे— गौर्वाहीकः⁴⁹।

(ग) शब्दों का अर्थ अगर हम बाह्य पदार्थ मानेंगे तो पर्यायवाची शब्द समानार्थक होने लगेंगे। अर्थगत आयामों का जो सूक्ष्म भेद है उसका भान मानसगत अर्थ में ही हो सकता है। वस्तुतः 'प्रत्यर्थ शब्दाः' की ही भाँति 'प्रतिशब्दम् अर्थवैभिन्न्यम्' का भी नियम है। इसका तात्पर्य है कि हर शब्द का अपना स्वतन्त्र अर्थ होना चाहिए। यदि इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि शब्दों का अर्थ बाह्य जगत् में विद्यमान इन्द्र को ही मान लिया जाए तो इन सारे शब्दों का अर्थ समान (बाहरी इन्द्र) होने लगेगा। अर्थ को आन्तरिक मानने पर ही इन शब्दों के अर्थों में जो भिन्नताएँ हैं उनकी उपपत्ति हो पाएगी। इस प्रकार इन्द्र का अर्थ ऐश्वर्यशाली, शक्र का अर्थ शक्तिमान् तथा पुरन्दर का अर्थ शत्रुओं के पुरों का विदारण करने वाला हो सकेगा^{१०}।

(घ) इसके अतिरिक्त, यदि हम शब्दार्थ को केवल बाह्य मानेंगे तो बहुत सारे शब्दों का अर्थ ही नहीं बन पाएगा जिनका बाहर संसार में कोई अस्तित्व नहीं है। विनाश, अभाव, खरगोश की सींग आदि का बाह्य विषय न होने पर भी आन्तरिक अर्थ तो है ही। अतः व्यापक होने के कारण अर्थ का स्वरूप बुद्धिविषयक ही मानना चाहिए^{११}।

हेमचन्द्र बौद्धार्थवादियों के मत को स्वीकार करते हुए भी एकान्तन्तः बुद्ध्यर्थ वाद के पक्ष में नहीं है। उनके अनुसार बुद्धि में अर्थ की सत्ता के लिए आवश्यक है कि बाहर भी उसका विद्यमान विषय हो। वह आलम्बन विहीन होकर मानसिक सत्ता में नहीं आ सकती। यदि बाहरी जगत् में गाय नहीं है तो मानस में उसका चित्र भी नहीं बन पाएगा—

“सत्यमेतत्, बुद्धिरप्यर्थस्तदाश्रया च प्रक्रिया सिद्ध्यति, किन्तु बुद्धिरेवार्थो न बहिरङ्ग इति बहिरङ्गार्थनिह्वो नोपपद्यते, असति हि तस्मिन् कथं निरालम्बना बुद्धिरुदेति?(बृहन्न्यास पृ.35)”

हेमचन्द्र बाह्यार्थ की उपस्थिति को प्रतीतियों की सत्यता—असत्यता तथा सम्यक्त्व—मिथ्यात्व की व्यवस्था के लिए भी आवश्यक मानते हैं। जिस बुद्ध्यर्थ के समान्तर बाह्यार्थ भी है उसे हम सत्य मानेंगे जिसके समान्तर बाह्यार्थ नहीं है उसे असत्य मानेंगे। शशशृङ्ग एक ऐसा बुद्ध्यर्थ है जिसके समान्तर कोई बाह्यार्थ नहीं है अतः यह प्रतीति असत्य है। अगर अर्थ को केवल बुद्धिस्थ माना जाए तो प्रतीतियों के सत्य—असत्य का कोई विनिश्चायक तत्त्व नहीं रह जाएगा, क्योंकि बुद्धि में स्थित सभी अर्थों का स्वरूप एक जैसा ही बनेगा चाहे उसके समान्तर बाह्य वस्तु विद्यमान हो अथवा न हो—

"किंच तदभावे सत्यानृतव्यवस्थापि न प्रकल्पते, लोके हि यस्य बहिरङ्गार्थोऽस्ति स सत्य इत्युच्यते, विपरीतस्त्वसत्य इति, अन्तरङ्गार्थनियमे तु बुद्धिस्वरूपाविशेषादयं विकल्पो नोपपद्यते इति। किञ्च बुद्धेः सम्यक्त्वमिथ्यात्वे बाह्यार्थसत्त्वासत्त्वापेक्षे। (बृहन्न्यास पृ.35)"

इस प्रकार उन्होंने बाह्यार्थ की अनिवार्यता भी स्वीकार की है। लेकिन नैयायिकों की भाँति केवल बाह्यार्थ को पदार्थ मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर बौद्धार्थ पर आधारित लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहार उपपन्न नहीं हो पाएँगे। इसलिए दोनों प्रकार के अर्थों को स्वीकार करना आवश्यक होगा⁵²।

इसके अतिरिक्त जैन वैयाकरणों ने अर्थ को भावरूप तथा अभावरूप दोनों प्रकार का माना है। यह भी अनेकान्तवाद के स्वीकार की ओर संकेत करता है⁵³।

8. सवर्ण आदि संज्ञाएँ

(क) सवर्ण संज्ञा—जैसा कि विदित है सवर्ण संज्ञा सभी वर्णों की सबके साथ न होकर किसी—किसी वर्ण की किसी—किसी के साथ होती है। जैनेन्द्रव्याकरण के टीकाकार अभयनन्दी ने इसका कारण यह बताया है कि वर्णों में साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों प्रकार के धर्म होते हैं। अगर 'अ' में केवल साधर्म्य ही होता तो उसकी सबके साथ सवर्ण (स्व⁵⁴) संज्ञा हो जाती और अगर उसमें केवल वैधर्म्य ही होता तो 'आ' के साथ भी उसकी सवर्ण संज्ञा नहीं हो पाती—यदि हि साधर्म्यमेव स्यात्, तदास्तित्वेनेवान्यैरपि धर्मैः साधर्म्यमस्तीति साधर्म्ये सर्वमेकं प्रसज्येत।

यदि च वैधर्म्यमेव, तदा कस्यचिदस्तित्वमपरस्य नास्तित्वमन्यस्य चान्यत् स्यात्।। (महावृत्ति 1.1.1, पृ. 2)

इस प्रकार सवर्ण संज्ञा के लिए वर्णों को साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनों प्रकार के धर्मों से समन्वित मानना होगा। वर्णों को अनेकधर्मात्मक मानना अनेकान्तवाद के कारण ही है।

(ख) प्रातिपदिक (मृत्⁵⁵) संज्ञा—धातुभिन्न अर्थवान् मूलशब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि मूल शब्द (प्रत्ययों के बिना) तो भाषा में प्रयुक्त ही नहीं होते फिर उनमें अर्थवत्ता का भान कैसे होगा? जैन वैयाकरण अभयनन्दी का कहना है कि उनकी अर्थवत्ता का पता हमें अन्वय—व्यतिरेक से हो पाता है। उदाहरण के लिए 'वृक्षः' के बाद 'वृक्षौ'

इस प्रयोग में 'विसर्ग' के अभाव (व्यतिरेक) से हमें एकत्व रूप अर्थ के जाने का तथा 'औ' के प्रयोग (अन्वय) से द्वित्व रूप अर्थ का हमें बोध होता है। ये दोनों अर्थ जिस आधार पर व्यक्त हो रहे हैं वह है अकारान्त 'वृक्ष' शब्द। उसके प्रयोग (अन्वय, सद्भाव) से वृक्षत्वजाति रूप अर्थ का भी बोध होता है। यह अन्वय तथा व्यतिरेक का पर्यायेण प्रयोग अनेकान्तवाद के अतिरिक्त किसी अन्य नितान्त भावात्मक या नितान्त अभावात्मक (ऐकान्तिक) मत को मानने पर नहीं हो सकेगा⁶⁶।

9. एक शब्द का अनेक कारकों में प्रयोग

कारकों का विविध उपयोग भी शब्द के प्रति किसी एकान्त मत को स्वीकार करने पर सम्भव नहीं हो पाएगा। अपने दैनन्दिन भाषिक प्रयोगों में हम देखते हैं कि वक्ता अपनी विवक्षा के अनुसार एक ही वस्तु को द्योतित करने वाले शब्द को कई कारकों में प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए "पीयमानो मधु मदयति" (पी जाती हुई शराब नशा करती है), अथवा "सुरैः स्तूयमानो जिनो जयति" (देवताओं द्वारा स्तुत किये जाते हुए तीर्थंकर सर्वोत्कृष्ट हैं)। प्रथम वाक्य में 'पीना' क्रिया की दृष्टि से शराब 'कर्म' है जबकि 'मत्त करने' की अपेक्षा से 'कर्ता' है। द्वितीय वाक्य में 'जिन' 'जयति' की अपेक्षा से तो कर्ता है परन्तु 'सुरैः' की अपेक्षा से कर्म है। पदार्थों को सर्वथा नित्य मानने पर एक जैसी वृत्ति का अवलम्बन लेने के कारण अन्यान्य कारकों का उसमें प्रयोग असम्भव हो जाएगा। ऐसा होने पर साध्य-साधन के भाषिक व्यवहार का सर्वथा लोप हो जाएगा—

तच्च कथमेकस्य सर्वथा नित्यत्वे एकरूपां वृत्तिमवलम्बमानस्य अवस्थान्तराभिव्यक्तरूपोपलम्भाभावाद घटते। इति साध्यसाधनरूपकारक-व्यवहारलोपः। (हैमबृहन््यास, पृ. 8)

और अगर पदार्थों को अनित्य अर्थात् निरन्तर परिवर्तित होने वाला मानें तो भी उनसे कारकों का संयोग नहीं हो सकेगा। यहाँ तक कि कर्ता कारक जो कि कारकों में सबसे महत्त्वपूर्ण है तथा दूसरे कारकों को उनकी भूमिका में प्रवृत्त करने वाला होता है, उसका भी पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं हो पाएगा। क्योंकि कोई भी वस्तु कर्तृत्व का वरण तब तक नहीं कर पाती है, जब तक वह फल, क्रिया, करण, क्रम इत्यादि सहकारियों अथवा विपरीत वस्तुओं का अनुमान न कर ले⁶⁷। क्षणिक वस्तु के मान लेने पर यह सब नहीं हो सकेगा। जब कर्तृत्व ही सम्भव नहीं हो पायेगा तो अन्य कारकों का प्रयोग तो असम्भव ही है।

10. दा-धातु से भिन्न धातुओं के प्रयोग में सम्प्रदान की व्यवस्था पाणिनि ने सम्प्रदान कारक की संज्ञा करने के लिए 10 सूत्रों (अष्टाध्यायी—1.4.32 से 1.4.41) का प्रणयन किया है जबकि जैनेन्द्र व्याकरण ने इसे केवल दो सूत्रों (1.2.11—112) में समेट दिया है। यह लाघव उन्होंने अनेकान्तवाद के आश्रय से प्राप्त किया है। ध्यातव्य है कि सम्प्रदान कारक सार्वत्रिक नहीं होता बल्कि कुछ विशेष धातुओं के प्रयोग के अधीन होता है। जैनेन्द्र व्याकरण में सम्प्रदान संज्ञा विधायक सबसे प्रमुख सूत्र है— कर्मणोपेयः सम्प्रदानम् (1.2.111)। यह सूत्र 'दा' धातु के प्रसङ्ग में है। सूत्र का अर्थ है— देने अर्थ वाली 'दा' धातु के कर्म का उपयोग करके कर्ता जिसको उपकृत अथवा सम्बद्ध करना चाहता है, उसे सम्प्रदान कहा जाता है, जैसे— उपाध्यायाय गां ददाति। लेकिन 'दा' के अतिरिक्त भी अनेक अकर्मक धातुएँ हैं, जिनके प्रयोग में सम्प्रदान कारक का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए— युद्धाय सन्नह्यति (युद्ध के लिए तैयार होता है), तिष्ठते ब्रह्मणी छात्रेभ्यः (ब्राह्मणी छात्रों के लिए उपस्थित होती है)। इन प्रसंगों के लिए कात्यायन ने विशेष वार्तिक का निर्माण किया है— क्रिययापि यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्⁵⁸। इन प्रयोगों की सिद्धि के लिए तादर्थ्य के अतिरिक्त महावृत्तिकार अभयनन्दी एक अपूर्व रीति सुझाते हैं। उनके अनुसार इन प्रसंगों में क्रिया ही अपने आप को विशेष तथा सामान्य दो भागों में बाँट लेती है। क्रिया के विशेष अंश को कर्म की तरह समझेंगे। इस तरह अपने विशेष अंश को लेकर क्रिया जिसे भी उपकृत करेगी उसे सम्प्रदान कहा जाएगा। अर्थात्, जिस प्रकार दा धातु के प्रयोग के अवसर पर वाक्य के 3 घटक होते हैं — कर्ता—क्रिया तथा कर्म। इसी प्रकार इन अकर्मक धातुओं के प्रयोग में भी कर्ता तथा क्रिया के अलावा स्वयं क्रिया ही भेद की विवक्षा से एक बार कर्म के रूप में प्रस्तुत हो जाएगी और उपेय (जिससे 'कर्म' सम्बद्ध हो रहा है) अर्थ का सम्प्रदानत्व सिद्ध हो सकेगा⁵⁹। इस प्रकार की युक्ति को स्वीकार करने से उपर्युक्त वार्तिक को बचाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

इसी युक्ति का उपयोग अभयनन्दी शेष विशिष्ट सकर्मक धातुओं (रुच, श्लाघ, ह्रुङ्, स्था, शप्, स्पृह, क्रुध, द्रुह, ईर्ष्य, असूय, राध् तथा ईक्ष) के प्रसंग में सम्प्रदान की व्यवस्था के लिए भी करते हैं, जिनके लिए पाणिनि को अलग सूत्र बनाने पड़े हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि इन धातुओं के लिए अलग से सूत्रों को बनाने की आवश्यकता क्यों नहीं है। उदाहरण के लिए — "पुष्पेभ्यः

स्पृहयति" इस उदाहरण में 'स्पृहा' को ही कर्म के रूप में विवक्षित करके पुष्प के प्रति उसे उपेय बना देंगे जिससे पुष्प की सम्प्रदानता सिद्ध हो जाएगी। इसी प्रकार "मित्राय क्रुध्यति" इत्यादि उदाहरणों को भी संगत कर लिया जा सकेगा।

ध्यातव्य है कि इन्हीं प्रसंगों में अनेक बार सम्प्रदान संज्ञा का निषेध भी मिलता है उदाहरण के लिए — 'भार्याम् ईर्ष्यति'⁵⁰। अब यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि जैनेन्द्र व्याकरण के अनुसार जब सम्प्रदान संज्ञा की ही नहीं गयी है तो उसका निषेध कैसे बताया जाएगा। अभयनन्दी का उत्तर है कि जैसा कि सिद्ध किया गया उपर्युक्त प्रसंगों में सम्प्रदान संज्ञा क्रिया को भिन्न रूप में विवक्षित करने से हो रही है। जिन प्रयोगों में सम्प्रदान संज्ञा का निषेध हो रहा है वहाँ यह माना जाएगा कि वहाँ क्रिया में उपर्युक्त प्रकार का भेद विवक्षित नहीं है। फलतः क्रिया, कर्म के रूप में व्यवहृत नहीं हो पा रही है⁵¹। इसके नाते कर्ता किसी को उपकृत भी नहीं कर पा रहा है और सम्प्रदान संज्ञा नहीं हो पा रही है। ध्यान रहे कि धातुओं के विशेष अर्थों में ही उसके भेद (अर्थात्, कर्म के रूप में व्यवहार) की विवक्षा होती है, जैसे कि— 'शप्' धातु का उपलम्भन अर्थ में, 'हुङ्' धातु का अपने को छिपाने के अर्थ में, 'राध्' तथा 'ईक्ष्' धातु का भाग्य विचारने के अर्थ में। इन धातुओं का अर्थ यदि बताए गये अर्थों से भिन्न हो तो उपर्युक्त भेद की विवक्षा नहीं होती। इस कारण तब उनके प्रयोगों में सम्प्रदान कारक का प्रयोग नहीं होता। कहीं कहीं ऐसा होता है कि एक ही साथ भेद तथा अभेद दोनों की विवक्षा हो जाती है। तब एक ही कारक की बारी-बारी से सम्प्रदान तथा कर्म दोनों संज्ञाएँ हो जाती हैं, जैसे — देवदत्ताय प्रणमति—देवदत्तं प्रणमति। ग्रामाय व्रजति—ग्रामं व्रजति।।

अभयनन्दी स्पष्ट करते हैं कि एक ही प्रकार के प्रसंग में कभी तो क्रियागत भेद तथा कभी अभेद की विवक्षा होती है। ऐसा अनेकान्तवाद के आश्रयण से सम्भव हो पाता है। एक ही धर्मी में अनेक विरुद्ध नाना धर्मों की धारिता को अनेकान्तवाद अनुमत करता है— सिद्धिरनेकान्ताद् (1.1.1) इत्यतो भेदाभेदोभयविवक्षा प्रत्येतव्या। पूर्वपक्षी के द्वारा अनेकान्तवाद की सहायता से सिद्धि की इस प्रक्रिया को गौरवपूर्ण नहीं कहा जा सकता क्योंकि पाणिनि आदि के मत में स्वतन्त्र सूत्रों के द्वारा सिद्धियाँ करने पर भी प्रतिपत्ति की गुरुता समान ही है⁵²।

11. ह्रस्व दीर्घ इत्यादि वर्ण विकार

जैसी कि ऊपर चर्चा आयी है वैयाकरण शब्द को नितान्त नित्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में वह कूटस्थ (स्थिर), अविचाली (निष्पन्द), अनुपजन (अक्षय) होगा⁶³ और उसमें किसी भी प्रकार के विकार की गुंजाइश नहीं रहेगी। लेकिन हम देखते हैं कि वर्णों को व्याकरण की विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा कभी दीर्घ किया जाता है तो कभी ह्रस्व। वैयाकरणों के मत में तो वे नित्य हैं। नित्य वस्तु में उसमें पहले से विद्यमान धर्मों की निवृत्ति सम्भव नहीं है। फलतः नित्यत्व पक्ष में वर्ण दीर्घ आदि विधियों को प्राप्त नहीं कर पाएगा। यही समस्याएँ अनित्यत्व पक्ष में भी आएंगी। शब्द को यदि बौद्धों अथवा नैयायिकों की तरह अनित्य मान कर वर्ण की उत्पत्ति के तुरन्त बाद उसे विनष्ट समझा जाए तो बड़ा प्रश्न यह होगा कि व्याकरण की प्रक्रियाएँ अपना विषय किसको बनाएंगी? इसलिए यहाँ भी हमें अनेकान्तवाद का आश्रय लेते हुए द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक दोनों प्रकार के नयों का प्रयोग करना होगा। हमें स्वीकार करना होगा कि शब्द सामान्यात्मना (शब्दत्व की दृष्टि से) तो नित्य है लेकिन ह्रस्व-दीर्घ इत्यादि अपने पर्याय धर्मों की दृष्टि से अनित्य। इस प्रकार मानने से वर्ण विकारादि सभी कार्य सिद्ध हो जाएंगे—

यस्यैव वर्णस्य ह्रस्वत्वं विधीयते तस्यैव दीर्घत्वादिः, तस्यै च सर्वात्मना नित्यत्वे पूर्वधर्मनिवृत्तिपूर्वकस्य ह्रस्वविधेरसम्भवः, एवमनित्यत्वेऽपि जननान्तरमेव विनाशात् कस्य ह्रस्वादिविधिरिति सामान्यात्मना नित्यः, ह्रस्वादिधर्मात्मना चानित्य इति। (हैमबृहन्न्यास, पृ. 8)⁶⁴

12. वर्णों में उदात्तादि अधिखण्डात्मक धर्मों का आदेश

जैनेन्द्र व्याकरण में उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ (1.1.13) सूत्र पर अभयनन्दी ने अपनी महावृत्ति में इस बात को स्पष्ट किया है कि यदि शब्द को बिलकुल नित्य अथवा बिलकुल क्षणिक मान लिया जाएगा तो वर्णों में उदात्तादि धर्मों की कल्पना संगत नहीं हो पाएगी। इसकी सिद्धि के लिए अनेकान्त दृष्टि को मानना ही होगा। शब्द को नित्य माना जाने का तात्पर्य उसका निरवयव होना है। निरवयव शब्द में अवयव-गत वृद्धि अथवा ह्रास सम्भव नहीं होगा। इसलिए उसमें उदात्त अथवा अनुदात्त धर्म का व्यवहार भी सम्भव नहीं हो सकेगा। नित्य वस्तुओं में स्थान अथवा करण के प्रयोगों से होने वाले भेद नहीं माने जा सकते। इससे बचने के लिए शब्दनित्यत्ववादी शब्दों को सावयव नहीं मान सकता। क्योंकि ऐसा होने पर तो वे नित्य ही नहीं रह

जाएंगे और नित्यतावादियों के सिद्धान्त की ही हानि हो जाएगी। शब्द को अनित्य अथवा क्षणिक मानने पर भी उनमें उदात्त आदि धर्मों का व्यवहार नहीं किया जा सकेगा। क्षणिकवादी वर्णजाति को नहीं मानेंगे। वर्णजाति को नहीं मानने पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसी जाति की अपेक्षा से वही एक बार उदात्त और वही एक बार अनुदात्त के रूप में व्यवहृत हो रहा है। ऐसा कहने के लिए हमें एक किसी स्थिर वर्णजाति की अपेक्षा तो होगी ही।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों एकांगी मतों में दोष है। अनैकान्तिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो लोक में व्यवहारकाल में प्रचलित शब्दों में उदात्तादि विभाग नहीं होते, बल्कि इन विभागों की चर्चा केवल शास्त्र में ही मिलती है। इसलिए लोक की अपेक्षा से नित्यता तथा शास्त्र की अपेक्षा से वर्णों को सावयव मान कर उनमें उदात्तादि धर्मों की व्याख्या भी की जा सकेगी।

ऊपर चर्चित विधियों के अतिरिक्त जैन वैयाकरणों ने बहुत सारी और भी व्याकरणिक प्रक्रियाएँ गिनायी हैं, जिन्हें अनेकान्तवाद के बिना समर्थित करना असम्भव हो जाएगा। इनमें से कुछ हैं— स्थानी—आदेश की व्यवस्था, निमित्त—निमिती की व्यवस्था तथा प्रकृति—विकार की व्यवस्था आदि⁶⁶। स्पष्ट है कि यह विस्तृत विषय स्वतन्त्र अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

13. अनेकान्तवाद तथा जैन व्याकरणों की संरचना

अनेकान्तवाद को स्वीकार करके जैन वैयाकरणों ने अनेक सूत्रों को बनाना व्यर्थ सिद्ध किया है जिससे उनके शास्त्र में लाघव आ गया है। उनके अनुसार वस्तुओं को यदि हम अनेकधर्मात्मक मान लें तो ये विधियाँ स्वतः सिद्ध हो जाएंगी। इस प्रकार अनेकान्तवाद ने जैन व्याकरणों की रचना—विधान को भी प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए जैनेन्द्र व्याकरण में पाणिनि द्वारा बनाए गये “जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्” (अष्टाध्यायी 1.2.58) इस सूत्र के समान्तर कोई भी सूत्र नहीं है। यह सूत्र जाति में एकवचन तथा बहुवचन दोनों का विधान करता है। जैनेन्द्र व्याकरण के महावृत्तिकार अभयनन्दी का कहना है कि इस सूत्र को बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि सभी वस्तुओं में सामान्यात्मक तथा विशेषात्मक दोनों धर्म स्वभावतः होते ही हैं। सामान्य धर्म के कारण ही हम उस वस्तु को भिन्न भिन्न चीजों में भी अनुवर्तित मान पाते हैं। इसी प्रकार विशेषात्मक धर्म उसे समान वस्तुओं से व्यावृत्त करता है। इसलिए जब भी हमें उस वस्तु में विद्यमान सामान्य धर्म की विवक्षा होगी तब हम उसमें

एकवचन का प्रयोग कर लेंगे तथा जब विशेषधर्म की विवक्षा होगी तब उसी वस्तु के लिए बहुवचन का प्रयोग कर लेंगे⁶⁸। इसी प्रकार पाणिनि के सूत्र "अस्मदो द्वयोश्च⁶⁹" (पा.1.2.59) को व्यर्थ बताते हुए अभयनन्दी कहते हैं— "आत्मा तथा इन्द्रिय दोनों एकान्तिक रूप से न तो स्वतन्त्र हैं न ही परतन्त्र। जब आत्मा की स्वतन्त्रता की विवक्षा होती है तो कहा जाता है— "मैं इस आँख से देखता हूँ"। और जब इन्द्रिय की स्वतन्त्रता विवक्षित होती है तो — "यह मेरी आँख देख रही है" इस तरह का प्रयोग कर देते हैं। अस्मद् के प्रयोगों में जब एकवचन की जगह बहुवचन का प्रयोग किया जाता है तब यह मान लेना चाहिए कि उस समय वक्ता को आत्मा का कर्तृत्व विवक्षित न होकर इन्द्रियों की स्वतन्त्रता विवक्षित है। आत्मा के अन्तर्गत कार्यरत इन्द्रियाँ चूँकि अनेक हैं इसलिए अहं गच्छामि की जगह वयं गच्छामः यह प्रयोग भी ठीक है⁷⁰।

उपर्युक्त सारे प्रतिपादनों के विरुद्ध प्रतिवादी यह कह सकता है कि "व्याकरण के सभी कथनों को स्याद्वादात्मक मान लेने से अनेकान्तवाद को तो प्रचार मिल जाएगा लेकिन व्याकरण का अपना मूल प्रयोजन 'असन्दिग्धता' खो जाएगी। रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः (महाभाष्य पस्पशाह्निक) के अनुसार व्याकरण की प्रक्रियाएँ सन्देहरहित होनी चाहिए। स्याद्वाद के आश्रय से तो हर एक विधि संशयग्रस्त हो जाएगी"। इस प्रश्न पर जैनाचार्यों का उत्तर यह होगा कि यह प्रश्न अनेकान्त सिद्धान्त को ठीक से नहीं समझे के कारण किया गया है। सप्तभंगी वाक्यों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग सन्देह वाचक नहीं है, बल्कि सापेक्षतावाची है, जैसा कि प्रारम्भ में ही बताया गया। हर नय—वाक्य सापेक्षता तथा गौण—मुख्य भाव के अनुरोध से वस्तु की स्थिति का कथन करता है इसलिए व्याकरण की सारी प्रक्रियाएँ अनेकान्त के स्वीकार के बाद भी असन्दिग्ध ही रहेंगी।

जैन वैयाकरणों ने व्याकरण शास्त्र की प्रविधियों और अनेकान्त—सिद्धान्त में विद्यमान आन्तरिक सजातीयता को पहचाना है तथा उसकी ओर इंगित भी किया है। व्याकरण शास्त्र शब्दों की नित्यता एवं अनित्यता के सम्बन्ध में किसी एक मतवाद का आग्रह नहीं रख सकता। अन्यथा वह सबके लिए उपादेय नहीं रह जाएगा। वस्तुतः सभी शास्त्रों का समान भाव से उपकारक होने के कारण व्याकरणशास्त्र स्वभाव से ही अनेकान्तात्मक है। स्वयं महाभाष्यकार दार्शनिक चर्चाओं के मध्य किसी एक निष्कर्ष पर अड़ने के प्रति उदासीन दीखते हैं⁷¹। शब्दों का प्रयोग विषय विस्तृत एवं विविध है

(महान् हि खलु शब्दस्य प्रयोगविषयः)। इस कारण व्याकरण शास्त्र अपने आप को किसी विशेष दार्शनिक आग्रह में बाँध कर नहीं रख सकता। इस प्रकार अनेकान्तवादी दृष्टि व्याकरण शास्त्र के परम अनुकूल है। जैन वैयाकरणों ने इस तथ्य को पहचानते हुए अनेकान्तवाद को अपने व्याकरणिक विश्लेषणों के लिए मार्ग निर्देशक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। जैन वैयाकरण यह घोषणा करते हैं कि "व्याकरण शास्त्र को यदि सर्वोपकारक होना है तो उसे अनेकान्तवाद की छत्रछाया में आना पड़ेगा—... अन्यतरपक्षपरिग्रहे सर्वोपादेयत्वविरहः स्यात् (हैमबृहन्न्यास पृ. 6)। अगर व्याकरण ने भी एकान्तता का ग्रहण किया तो उसे सर्वोपकारकत्व जैसी अपनी बड़ी विशेषता से हाथ धोना पड़ेगा। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार व्याकरण शास्त्र तथा अनेकान्तवाद का संगम 'रत्नं रत्नेन संगच्छेत्' की भाँति बड़ा ही मनोरम है। एक ओर है सर्वपार्षद सर्वोपकारक व्याकरणशास्त्र और दूसरी तरफ है सकलदर्शन—समूहात्मक अनेकान्तवाद—सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शनसमूहात्मक —स्याद्वादमसमाश्रयणम् अतिरमणीयम्। (हैमबृहद्वृत्ति 1.1.2, पृ. 5)

जैन वैयाकरण व्याकरण शास्त्र को मोक्ष का पारम्परिक कारण मानते हैं⁷²। सिद्धहेमशब्दानुशासन⁷³ तथा भिक्षुशब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति में तो बताया गया है कि व्याकरण यदि अनेकान्तवाद का आश्रय लेता है तभी वह मुक्ति का साधन बन सकता है, अन्यथा नहीं— ततः अनेकान्तादेव विविक्तशब्दप्रयोगात् सिद्धिः—सम्यग्ज्ञानं, तद्द्वारेण निःश्रेयसं भवेदिति। (सिद्धिरनेकान्तात् 1.1.2)।

निदेशक, स्वामी विवेकानन्द सांस्कृतिक केन्द्र
भारतीय दूतावास, तेहरान (ईरान)

मूल जैनव्याकरण ग्रन्थ—

(सं.) विन्ध्येश्वरी प्रसाद (1910) जैनेन्द्रव्याकरणम् महावृत्तिसहितम्. वाराणसी : मास्टर खेलाड़ीलाल संकटाप्रसाद संस्कृत पुस्तकालय।

उपाध्याय, क्षमाविजयगणि (सम्पा.), (1937). श्री हैमप्रकाश—महाव्याकरण (पूर्वार्द्धम्). मुंबई: शाह हीरालाल सोमचन्द्र

हेमचन्द्रसूरि, विजयलावण्यसूरि. (2007 वि.) श्रीसिद्धहेमचन्द्र—शब्दानुशासनम् (प्रथमोऽध्यायः). राजनगर: जैनग्रन्थप्रकाशकसभा

(सं.) शम्भुनाथ त्रिपाठी (तृ. सं. 2016) जैनैन्द्रव्याकरणम् महावृत्तिसहितम् दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ ।

(सं.) दोशी, बेचरदास जीवराज (1967) आचार्यमलयगिरिविरचितं शब्दानुशासनम् स्वोपज्ञवृत्तियुतम् अहमदाबाद : लालभाई दलपतभाई भारतीयसंस्कृति विद्यामन्दिर ।

श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनबृहद्वृत्यवचूर्णि (1948) अमरचन्द्र श्रेष्ठि. सूरत : दे. ला. जैनपुस्तकोद्धारागारः ।

(टी.) ज्ञानमती (1989) आचार्यविद्यानन्दविरचिता अष्टसाहस्री. मेरठ : दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान ।

(सं.) जम्बूविजय, मुनि (1994) श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम् पाटण : श्रीहेमचन्द्राचार्य जैनज्ञानमन्दिर ।

(अनु. व्या.) नन्दिघोषविजय (1996). हेमहंसगणिसंगृहीत न्यायसंग्रह. अहमदाबाद : कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण निधि ।

शाकटायनं व्याकरण (2004) अभयचन्द्रसूरिप्रणीतप्रक्रियासंग्रहसहितम् नई दिल्ली : संजय प्रकाशन ।

(सं.) कंसार, डॉ. न. म. (2005). श्रीबुद्धिसागरसूरिप्रोक्तं पञ्चग्रन्थीव्याकरणम् (स्वोपज्ञवृत्तिसमेतम्). दिल्ली : भोगीलाल लहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान ।

गणीन्द्र, पन्नासप्रवर श्रीचन्द्रसागर (सम्पा.). (1946). श्री सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासनम् (पूर्वार्द्धम्). मुंबई: श्री सिद्धचक्रसाहित्यप्रचारकसमिति ।

जैनदर्शन से सम्बद्ध ग्रन्थ—

भारिल्ल, शोभाचन्द्र (अनु.). (1944). जैन तर्क—भाषा. अहमदनगर: श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्ड ।

भारिल्ल, शोभाचन्द्र (अनु.). (1970). प्रमाण—मीमांसा. अहमदनगर : श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्ड ।

जैन, सागर मल. (1986). जैन भाषा—दर्शन. देहली: भोगीलाल लहरचन्द इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी

उमास्वाति, संघवी, सुखलाल (विवेचक). (2009). तत्त्वार्थसूत्र. वाराणसी: पार्श्वनाथ विद्यापीठ ।

(टी. अनु.) विजयकीर्तियशसूरीश्वर (2009). सिद्धसेनदिवाकरकृतं संमतितर्कप्रकरणम् सन्मार्गप्रकाशन. अहमदाबाद ।

(सं.) नरेन्द्र कुमार जैन (2017). समन्तभद्रविरचितं युक्त्यनुशासनम्. आचार्य कुन्दकुन्द जैन विद्या केन्द्र

अन्य—

संवृत्तिवाक्यपदीयद्वितीयकाण्डम् भर्तृहरिविरचितं पुण्यराजटीकोपेतम् (सं.) सुब्रह्मण्य
अय्यर, को.अ. (1983). मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.

वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्डम् (2006) रघुनाथशर्मविरचितया अम्बाकर्त्र्या सहितम्
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी।

महाभाष्यम् पतञ्जलिविरचितम्. प्रथम भाग संशोधक— भार्गवशास्त्री, चौखम्बा
संस्कृत प्रतिष्ठान. दिल्ली (पुनः.) 2014

अध्ययन—

Tatiya, Nathmal (1951) *Studies in Jain Philosophy. Benaras : Jain Cultural Research Society.*

शास्त्री, नेमिचन्द्र (1963). आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन—एक अध्ययन.
वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन।

शाह, पं. अम्बालाल प्रे. (1969). जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग—5. वाराणसी :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम, हिन्दू युनिवर्सिटी, वाराणसी।

डोसी, राजेन्द्रलाल (1982) अनेकान्तवाद : एक समीक्षात्मक अध्ययन. प्रयागराज :
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान।

प्रभा कुमारी. (1990). जैनाचार्यों का संस्कृत व्याकरण को योगदान. दिल्ली : निर्माण
प्रकाशन, शाहदरा।

Sharma, Dipti (1990). *Hemchandra's Concept of Karaka. A paper contributed to the Volume 'Haima&Vanmaya-Vimarsha' ed- Tapaswi Nandi and Rajendra Nanavati-Gujrati Sahitya Akademi.*

Matilal, B.K. (2001). *The Word and the World. Oxford University Press. New Delhi.*

Shukla, Balram (2016) व्याकरणिक कोटियों का अभिनवकृत दार्शनिक उपयोग.
भाषा— 268

Shukla, Balram (2017) जैन संस्कृत व्याकरण परम्परा, सम्बोधि—Sambodhi, XL.
सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी—

1. विशेष विवरण के लिए देखें (शुक्ल 2017)
2. शाकटायन के अतिरिक्त सभी जैन वैयाकरणों ने इस आशय के सूत्र बनाये हैं, जैसे —
जैनेन्द्र—1.1.1, हेमचन्द्र—1.1.2, मलयगिरि—1.1.1, भिक्षुशब्दानुशासन—1.1.2।
3. विशेष विवरण के लिए देखें—(शुक्ल 2016)
4. अम्यते गम्यते धर्मिणि इति अन्तः धर्मः। (हैमव्याकरण 1.1.1 की बृहद्वृत्ति)

5. यद्यपि जैन दार्शनिकों ने इसे विरोध नहीं कहा है, क्योंकि उनके अनुसार सहावस्थान का अभाव ही विरोध है। यदि ये धर्म एक साथ अवस्थित हैं तो फिर विरोधी कैसे कहे जा सकते हैं। वस्तुओं के धर्मों में इस आपाततः विरोध का शमन करने के लिए ही तो अनेकान्तवाद प्रवृत्त होता है।
6. (डोसी 1982, 102 पर उद्धृत)
7. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । (तत्त्वार्थसूत्र 5.30)
8. उत्पादो वस्तुनो भावो नाशस्तस्य व्ययो मतः ।
ध्रौव्यमन्वितरूपत्वम् एकं नान्योन्यवर्जितम् ।। (अनेकान्तव्यस्था 83)
9. इसी आधार पर द्रव्य का लक्षण 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' (तत्त्वार्थसूत्र 5.38) भी किया गया है।
10. दे. प्रमाणमीमांसा — प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु । (1.30) । इसी कारण इन दोनों के ज्ञान हेतु प्रवृत्त नय को क्रमशः द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय कहते हैं।
11. परियन्ति उत्पादविनाशधर्माणो भवन्तीति पर्याया विवर्ताः । (प्रमाणमीमांसा 1.30)
12. न चैवानन्तात्मकत्वं वस्तुनो विरुध्यते प्रत्येकमुत्पादादीनामनन्तेभ्य उत्पाद्यमानविनश्यतिष्ठदभ्यः कालत्रय्यपेक्षेभ्योऽर्थेभ्यो भिद्यमानानां विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतोऽनन्तभेदोपपत्तेः पररूपव्यावृत्तीनामपि वस्तुस्वभावसाधनात्.. (अष्टसाहस्री, आचार्य विद्यानन्द)
13. न चैकस्मिन्नित्यत्वमनित्यत्वं च दुर्वचनं तत्तदपेक्षयैकस्मिन्नपि पुंसि पितृपुत्रमा— तुलभाग्निनेयादिव्यपदेशवत्तस्य लोके सुप्रतीतत्वादिति दिक् । (हैमकौमुदी 1.1.2, पृ. 6)
14. (Tatia 1951, Chapter 2)
15. आचारांगसूत्र 2.4
16. (Tatia 1951, 21-22)
17. इनका एकत्र संग्रह करने वाला श्लोक इस तरह है—
विधिर्निषेधोऽनभिलाष्यता च त्रिरेशः त्रिद्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधामी स्याच्छन्दनेया सकलेऽर्थभेदे ।। (युक्त्यनुशासनम् 46)
18. विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय उन्हें कहा जाता है जो क्रियारूपों अथवा शब्द रूपों की तरह लगते तो हैं लेकिन अव्यय होते हैं क्योंकि उनमें उन क्रियारूपों अथवा शब्द रूपों के अर्थों का अनुगम नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'अस्तिकीरा गौः' में 'अस्ति' । 'अस्तिकीरा' शब्द में 'अस्ति' का अर्थ है वर्तमान न कि अस् धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन का अर्थ (है आदि) ।

19. स्यादित्यव्ययम् अनेकान्तद्योतकम् ।
20. क्योंकि— कोई भी द्रव्य पर्याय से रहित नहीं हो सकता—
द्वयं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पायड्डिङ्गं हुंदि दवियलक्खणं एयं ।। संमतितर्कप्रकरण 1.12 ।।
21. जैन, सागरमल (1986), प्रस्तावना पृ. 11
22. सद्बो खन्धप्पभवो खन्धो परमाणुसंगसंघादो ।
पुड्डेसु तेसु जायदि सद्बो उप्पादको णियदो ।।
पञ्चास्तिकायसार 79, जैन, सागरमल (1986), प्रस्तावना पृ. 1 पर उद्धृत
23. पुद्गल दो प्रकार के हैं परमाणु रूप तथा स्कन्ध (समूह) रूप । दे. तत्त्वार्थसूत्र 5.25—
अणवः स्कन्धाश्च ।
24. यत्र पुद्गलस्कन्धस्य वर्णभावापत्तिस्तत् स्थानम् कण्ठादि । (पृ. 22, पंक्ति 56—57)
इस पर देखें बृहन्न्यास, पृ. 24, पंक्ति
10—33—“अयमभिप्रायः— आत्मा ह्यनादिकर्मसन्तानसन्ततौ वीर्यान्तरायक्षयक्षयोपशम—
जनितलब्धिमूलेन मनोवाक्कायसम्बन्धसमासादितात्मलाभेन द्रव्यक्षेत्रकालभावम—
वसमापादितवैषम्येणात्मपरिणामेन परिणामालम्बनग्रहणसाधकेन योगाख्येन
वीर्येणाञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवदेकद्वित्र्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तानन्तवर्गणात्मक
प्रदेशैर्दृश्यैरदृश्यैश्च पुद्गलैरवगाढनिचिते समन्ततो जगति वर्णपरिणामयोग्यानन्त—
प्रदेशान् पुद्गलानुपादाय तत्र तत्र स्थाने तं तं वर्णं परिणमय्यालम्ब्य विसृजति, यथा
प्राणापानतयेति । पुद्गलपरिणामत्वं च वर्णानां बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद् बाह्यादिभिः
प्रतिहन्यमानत्वाच्च गन्धवत्” । इत्यादि ।।
25. स्याद्वादोऽकामेनाभ्युपगन्तव्यः । (हैमशब्दानुशासन 1.1.2, न्याससार पृ. 10)
26. स्वसूत्रे लक्ष्यसंस्कारकवाक्यार्थशून्यत्वे सति विधिसूत्रवाक्यतापन्नत्वमधिकारः.. ।
(न्यायकोश, पृ. 14)
27. अयमधिकारः आशास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः इति । (हैमबृहन्न्यास पृ. 6) ।
भिक्षुशब्दानुशासनम्, पृ. 4 ।
28. जब अधिकार सूत्र अपने शब्द के स्वरूप से निरपेक्ष होकर अर्थतः उपस्थित होता है
तब उसे ‘अर्थाधिकार’ कहा जाता है ।
29. संज्ञा—परिभाषा—अधिकार—विधि—प्रतिषेध—नियम—विकल्प—समुच्चयाति
देशानुवादरूपदशविधयोगेषु । (हैमबृहन्न्यास पृ. 6)
30. किं बहुना—उन्मिषितमात्रमप्यनेकान्तमन्तरेण न सिद्ध्यतीत्येषोऽधिकारः निर्णेतव्यः ।
(शब्दार्णवचन्द्रिका 1.1.1, पृ.)

31. हैमशब्दानुशासन, न्याससार 1.1.2, पृ.10
32. इनकी व्याख्या के लिए देखें बृहन्न्यास पर आनन्दबोधिनी 1.1.2
33. (Matilal 2001, Introduction by Arindam Chakravarti).
34. कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिदेकत्ववादिनः ।
कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिन्नानात्ववादिनः ॥ (वाक्यपदीयम् -1.70)
35. भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते ।
तत्र यन्मुख्यमेषां तत्रान्येषां विपर्ययः ॥ (वाक्यपदीयम् 1.73)
36. सूत्राणामारम्भणादेव शब्दानां नित्यत्वमभिमतम् । न ह्यनित्यत्वे शब्दादीनां शास्त्रारम्भे किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति । व्यवहारमात्रमेतदनर्थकं न महान्तः शिष्टाः समनुगन्तुमर्हन्तीति । तस्माद्वयवस्थितसाधुत्वेषु शब्देषु स्मृतिशास्त्रं प्रवृत्तमिति । (वाक्य. 1.23 -स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. 50)
37. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (अष्टा.1.2.53) इत्येवमादीनि सूत्राणि नित्यत्वं प्रति समर्थयन्ते । अनुतन्त्रेषु खल्वपि- सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे इति, सिद्धं नित्यशब्दत्वात् इति, स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायते । सर्वे सर्वपदादेशा इत्येवमादि । भाष्ये खल्वप्युक्तं- संग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितं नित्यं शब्दः, इति । अनुतन्त्रभाष्येऽप्युक्तं-नित्येषु शब्देषु कूटस्थैर्वर्णैरविचालिभिर्भवितव्यमिति । (वाक्य.1. 23 -स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. 51)
38. ततः सिद्धिर्निष्पत्तिर्वा शब्दानां वेदितव्या । (हैमशब्दानुशासन, बृहद्वृत्ति पृ.5)
39. यह समव्याप्ति दर्शन में प्रसिद्ध है- यद् यत् कार्यम्, तत् तदनित्यम् ।
40. एकान्तान् नित्यानां शब्दानामुच्चारणावसरे स्थानप्रयत्नादिना कश्चिद्विशेषो जन्यते न वा? जन्यते चेन्नित्यत्वहानिः, न जन्यते चेत्तर्हि प्राग्वत्तदापि ज्ञानं न स्यात् सर्वदा वा स्यात्, न चानुच्चारिताः शब्दा ज्ञायन्ते तदेवमेकान्तनित्यत्वे शब्दानां ज्ञापितं घटते । प्रकृतिप्रत्ययादिद्वारेण निष्पत्तिस्तु दूरापास्तैव । ततश्च साधुष्वसाधुषु च शब्देषु स्वत एव नित्येषु सत्सु व्याकरणारम्भप्रयासोऽपि व्यर्थ एव । (हैमकौमुदी 1.1.2, पृ. 6)
41. किञ्च एकान्तान्नित्यत्वेऽपि टकारोच्चारणकाल एव घकारे नष्टे कथं घटशब्दज्ञप्तिः स्यात्? उच्चारितमात्रायामेव प्रकृतौ नष्टायां मृतमण्डनन्यायेन कः प्रत्ययादिना विशेष्यत इति निष्पत्तिरपि दुर्घटा, ततश्च व्याकरणारम्भो दुर्घट एव । (हैमकौमुदी 1.1.2, पृ. 6)
42. नष्पत्तिः शब्दानित्यत्ववादिनां मतेन, ज्ञप्तिः शब्दनित्यत्ववादिसमतेन, इत्युभयरूपव्याख्यानं मतविशेषमाश्रित्य, स्वमते तूभयथापि न दोषः । (आनन्दबोधिनी 1.1.2, पृ.)

43. वही ।
44. महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)
45. संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ।।
46. देखिए सिद्धहैमशब्दानुशासन तथा भिक्षुशब्दानुशासन पृ.4, पाद टिप्पणी ।
संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
प्रतिषेधो विकारश्च विकल्पश्च समुच्चयः ।।
अतिदेशोऽनुवादश्च दशधा सूत्रलक्षणम् ।। (हैमबृहद्वृत्ति 1.1.2)
47. नीलोत्पलशब्दे उत्पलशब्दविफलता च । (आनन्दबोधिनी 1.1.2)
48. ननु नित्यत्वादन्तरङ्ग एवार्थशब्दः प्रयुज्यते, नित्यो हि शब्दस्य सम्बन्धादारभ्य बुद्ध्यर्थः, यदसन्निहितेऽपि विषये बुद्धिः शब्देन जन्यते—गौर्जायते, गौर्मृत इति । (बृहन्न्यास 1.1.27, पृ. 35)
49. तथा विपरीतेऽपि वस्तुन्यहेयत्वादुत्पद्यते, यथा गौर्वाहीक इति । (तदेव)
50. असाधारणत्वाच्च बुद्धिरेवार्थः, साधारणो हि विषयः सर्वपर्यायशब्दानाम्—इन्द्रः, शक्रः, पुरन्दर इति, न तथा बुद्ध्यर्थः साधारणः । (तदेव)
51. इतश्च बुद्धिरेवार्थः, कुतः? व्यापित्वात्, न ह्यभावो विनाशः शशविषाणादीनां शब्दानां विषयोऽर्थो विद्यते, बुद्ध्यर्थस्तु विद्यत एव सर्वेषाम् । एवं च सर्वा प्रक्रिया बुद्धिविषया उपपद्यत इति । (तदेव)
52. तत्र बहिरङ्गार्थनियमे बुद्ध्यभावात् तदाश्रयो लौकिकव्यवहारः शास्त्रीयश्च न सिद्ध्यतित्युभयार्थपरिग्रहः । (तदेव)
53. अर्थश्चाभिधेयो भावाभावरूपः । (जैनेन्द्रमहावृत्ति 1.1.5)
54. तुल्यस्थानास्यप्रयत्नः स्वः (हैमशब्दानुशासनम् 1.1.17)
55. जैनेन्द्र व्याकरण में प्रातिपदिक को 'मृत्' नाम दिया गया है (दे.—जैनेन्द्रमहावृत्ति 1.1.5)
56. अधु मृत् (1.1.5) इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवच्छब्दरूपं मृत्संज्ञकमनेकान्तात् सिध्यति । तथा हि विभक्त्यन्तस्य च शब्दस्य प्रयोगादर्थे ज्ञानमुत्पद्यत इति संघाता अर्थवन्तो दृष्टाः, तदवयवानामप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवत्ता जायते । वृक्षावित्यत्र, विसर्जनीयाभावादेकत्वार्थो निवृत्तः, औकाराभावाद् द्वित्वं जातम् । अकारान्तवृक्षशब्दान्वयाज्जातिरन्वयिनी प्रतीयते । अन्वयव्यतिरेको च भावाद्यनेकान्तवादे न स्तः । (अभयनन्दिकृत महावृत्ति 1.1.1)
57. जैन वैयाकरणों ने कर्तृत्व की सिद्धि के लिए निम्नोक्त स्थितियों के वितर्क की स्थिति रखी है—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो व्ययोऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम ।

अयं सुहृदयं द्विषन् प्रकृतदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥

(हैमबृहन्त्यास 1.1.2, पृ.10)

58. अष्टाध्यायी 1.4.32 पर काशिकावृत्ति ।

59. अथवा कथञ्चिद् विवक्षितभेदाभिः सन्दर्शनप्रार्थनाऽध्यवसायक्रियाभिः क्रियापि व्याप्या सती कर्मतयोपेयत्वात् सम्प्रदानत्वम् । (जैनेन्द्रमहावृत्ति 1.1.111)

60. इस उदाहरण में 'ईर्ष्य' धातु का प्रयोग तो है लेकिन क्रोध का अभाव होने के कारण भार्या की सम्प्रदानसंज्ञा नहीं हुई है । दे. इसी सूत्र पर सि.कौ.— मैनामन्यो द्राक्षीदिति भार्यामीर्ष्यति ।

61. कोपादन्यत्र क्रुधादीनां प्रार्थनादिभिः क्रियाविशेषैर्भेदो न विवक्षित इति क्रियायाः कर्मव्यपदेशो नास्ति । (जैनेन्द्रमहावृत्ति 1.2.111)

62. परेषामपि प्रतिपत्तिगौरवं तुल्यम् । (जैनेन्द्रमहावृत्ति 1.2.111)

63. महाभाष्य पस्पशाह्निक ।

64. ध्यातव्य है कि इस समस्या को शब्दनित्यतावादी पाणिनीय वैयाकरणों ने अद्भुत प्रकार से समाहित किया है । उनके अनुसार शब्द के एकदेश में विकार उत्पन्न नहीं होता बल्कि उस शब्द को ही हटाकर एक नया शब्द प्रतिस्थापित कर दिया जाता है—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।

एकदेशविकारे तु नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ (महाभाष्य 1.1.20)

लेकिन तब जैन तत्त्वज्ञ उनसे पूछ सकते हैं कि जब स्थानी और आदेश दोनों युग्म नित्य सत्य है तो हमें स्थानी की अनुभूति क्यों नहीं होती?

65. "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा इति यैरिष्यते तेषां निरवयवस्य नित्यस्य शब्दस्य अवयवोपचयापचयाभावात् उदात्तादिव्यपदेशो न घटते, सावयवत्वे च तेषाम् अनित्यत्वं प्राप्नोति । न च नित्यस्य स्थानकरणव्यापारविशेषाद् विशेषः प्रसज्यते । क्षणिकपक्षेऽपि नैका नित्या स्वरजातिरस्ति यामपेक्षायामत्रोच्चैरयं नीचैरिति व्यवहारो भवेत् । तस्मादुक्तमनेकान्तमाश्रित्योदात्तादयः समर्थनीयाः" । (पृ. 5)

66. हैमबृहन्त्यास—1.1.2, पृ. 10

67. इस सूत्र का तात्पर्य है कि जाति के अर्थ में एक वस्तु के अर्थ में बहुवचन का प्रयोग भी किया जा सकता है ।

68. जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् (अष्टाध्यायी 1.2.58) इति न वक्तव्यम् । सामान्यविशेषात्मकत्वाद वस्तुनः । विशेषेष्वनुवृत्ताकारबुद्धिनिमित्तं सामान्यम् ।

व्यावृत्ताकारबुद्धिहेतवो विशेषाः । तत्र सामान्यविवक्षायामेकत्वं भवति । सम्पन्नो ग्रीहिः । विशेषविवक्षायां बहुत्वम् । सम्पन्ना ग्रीहयः । (जैनेन्द्रमहावृत्ति 1.1.99) ।

69. इसका तात्पर्य है— अस्मद् के अर्थ में एक तथा दो की संख्या में भी बहुवचन का विकल्प से प्रयोग किया जा सकता है ।
70. अस्मदो द्वयोरेकस्य च वा बहुत्वं न वक्तव्यम् । कथमहं ब्रवीमि, आवां ब्रूमः, वयं ब्रूम इति? आत्मन इन्द्रियाणां च स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च विवक्षया भविष्यति । कदाचिदात्मा स्वतन्त्रो भवति । अनेनाक्षणा पश्यामि । कदाचिदिन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यम् । इदं मेऽक्षि पश्यति । तत्रात्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायामेकत्वमिन्द्रियाणां स्वातन्त्र्ये बहुत्वम् । (जैनेन्द्रमहावृत्ति 1.1.99)
71. अथवा किं न एतेन इदं नित्यमिदमनित्यमिति । यन्नित्यं तं पदार्थं मत्त्वैष विग्रहः क्रियते । (सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे वार्तिकभाष्य, पस्पशाह्निक) ।
72. व्याकरणात् पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।
अर्थात् तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ।। हैमबृहन्न्यास 1.1.2, पृ. 9 पर उद्धृत)
73. सिद्धिः स्याद्वाद् की दूसरी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए — सिद्धिः सम्यग्ज्ञानं मोक्षश्च स्यादिति वाऽर्थः (हैमनूतनलघुप्रक्रिया 1.1.1, पृ.2)

श्रीअरविन्द की आर्षदृष्टि : वेदभाष्य एवं लोकभाष्य

प्रवीण पण्ड्या

भारत भूमिमात्र नहीं है, अपितु भारत के लोग ही भारत है, यह बात प्रायः उन पर आक्षेप की शैली में भी कही जाती है, जो राष्ट्र की भूमि को ही राष्ट्र समझते हैं। भूमि तो राष्ट्र है ही, इसमें कोई संशय नहीं, किन्तु उसके आगे—उस भूमि में रहने वाले लोग भी राष्ट्र हैं। कदाचित् यह भी अनुभव में आता है कि यह आक्षेप भी वस्तुतः एक तरह की नारेबाजी में परिणत हो गया है, क्योंकि इनके लिए लोग केवल हाड़—मांस के लोथड़े हैं, जिनका कोई मन या बुद्धि नहीं है। राष्ट्र भूमि भी है, लोग भी हैं, किन्तु शरीरमात्र तक सीमित लोग ही नहीं। उनके तन पर कपड़ा, सिर पर छत और पेट में अन्न की चिन्ता करणीय है ही, साथ—साथ उनके मन और बुद्धि की निजता की भी रक्षा की जानी है। श्रीअरविन्द की राष्ट्रीयता इन तीनों स्तरों को लिए हुए भी है और इसे अतिक्रान्त किये हुए भी है। श्रीअरविन्द का आर्षत्व भारत के दर्शन में है। उनके आर्षत्व में भारत का वेद और लोक—दोनों प्रकाशित हैं। न तो अंग्रेज भारत की भूमि पर अधिकार करके रुक गये थे और न हमारा स्वतन्त्रता आन्दोलन केवल भूमि की मुक्ति का आन्दोलन था। स्वतन्त्रता का राष्ट्रीय आन्दोलन एक साथ उन सभी बन्धनों के विरुद्ध विभिन्न दिशाओं में उठ खड़ा हुआ था, जो अनेक तरह से भारत के देह, मन और प्राणों को जकड़े हुए था। यह आन्दोलन उन बन्धनों के विरुद्ध भी था, जो हमारी अपनी दुर्बलताओं से जन्मे थे और दीर्घावधि से हमारे समाज को जकड़े हुए थे। अंग्रेजों ने हमारी दुर्बलताओं का हमारे विरुद्ध उपयोग किया। राष्ट्र (जन) के मन और बुद्धि को औपनिवेशिक विमर्श के तहत फाँसने का जो क्रूर काम योरोपीय प्रज्ञा ने किया, वह अक्षम्य अपराध है।

श्रीअरविन्द उसको समझने और वास्तविकता को प्रकाश में लाने हेतु वेदभाष्य में प्रवृत्त हुए हैं। चूँकि, योरोपीय मनीषा भारत के वेद की व्याख्या करके इसके लोक को अपना उपनिवेश बनाने के षड्यन्त्र—चक्रव्यूह को रच चुकी थी, यह आवश्यक था।

उन्मीलन—वर्ष 39, अंक 1, जनवरी—जून 2025

ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

यूरोपीय विद्वान् वेद की आलोचना इस रूप में करते हैं कि वह धर्मपुस्तक नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें लौकिक विषय आए हैं। वेददृष्टि में भौतिक और अभौतिक का अत्यन्त भेद नहीं है, जबकि वेदेतर दृष्टियों में भौतिक या लौकिक को दिव्य या अलौकिक से पूरी तरह से अलगाया जाता है। वेद और वेदेतर दृष्टि में यह आधारभूत भेद है। श्रीअरविन्द-भाष्य पर प्रथम बात यह कही जानी है कि उनका बोध यह था कि अतीन्द्रिय और इन्द्रियगोचर—एक ही विराट् सत्ता है। ऋषियों के बारे में श्रीअरविन्द का यह कथन प्रमाण है—

“...साथ ही यह आवश्यक नहीं कि उसका बाह्य लौकिक अर्थ केवल पर्दे का ही काम करे, क्योंकि ऋचाएँ उनके निर्माताओं द्वारा शक्ति के ऐसे वचन मानी गयी थीं, जो न केवल आन्तरिक वस्तुओं के लिए किन्तु बाह्य वस्तुओं के लिए भी शक्तिशाली थे। शुद्ध आध्यात्मिक धर्मग्रन्थ तो केवल आध्यात्मिक अर्थों से अपना वास्ता रखता, किन्तु ये प्राचीन रहस्यवादी साथ ही वे भी थे, जिन्हें ‘आकल्टिस्ट’ (गुह्यविद्यावित्) कहना चाहिए। ये ऐसे थे, जिनका विश्वास था कि आन्तर साधनों द्वारा आन्तरिक ही नहीं, बाह्य परिणाम भी उत्पन्न किये जा सकते हैं, विचार और वाणी का ऐसा प्रयोग किया जा सकता है जिससे इसके द्वारा प्रत्येक प्रकार की—स्वयं वेद में प्रचलित मुहावरे में कहें तो ‘मानुषी और दैवी’ दोनों प्रकार की—सिद्धि या सफलता प्राप्त की जा सकती है।”

श्रीअरविन्द की आर्ष दृष्टि से अतीन्द्रिय वेद और इन्द्रियगोचर लोक—दोनों प्रकाशित हैं।

श्रीअरविन्द ने वेद का भाष्य अंग्रेजी में लिखा है, जबकि संस्कृत में भवानी भारती जैसा खण्डकाव्य वह लिख चुके थे। भारत के देह को परास्त कर चुकी यूरोपीय प्रज्ञा भारतीयों के अदम्य मन और अपराजेय बुद्धि पर अधिकार कर रही थी। यह अनेक जटिल युक्तियों और चालाकियों से भरा हुआ कार्य था। इसके अनेक चरण थे और जटिलता इतनी थी कि इस कार्य के जो विरुद्ध में थे, उन्हें भी अन्ततः इस संजाल में समेट लिया जा रहा था। अंग्रेज जाति की इस कुत्सित परियोजना में एक महत्त्वपूर्ण चरण था—भारतीय—विचार की विविध दिशाओं में से उसे चुनना, उभारना और प्रोत्साहित करना, जो उनके ‘लक्ष्य की सिद्धि में’ अनुकूल है। वेद पर अंग्रेजों द्वारा करवाये कार्य इन्हीं पूर्वग्रहों से ग्रस्त हैं। वेदार्थ को यहाँ (भारत में) बहुत

दृष्टियों से देखा गया है, जबकि अंग्रेज केवल उस सायण भाष्य को ही लेते हैं, जो मुस्लिमों के साथ संघर्ष में उलझे हुए विजयनगर साम्राज्य के मन्त्री आचार्य सायण के नेतृत्व में पण्डितों की एक टीम द्वारा किया गया था। योरोपीय विद्वान् सायण का यथावत् स्वीकार करते तो अलग बात होती, परन्तु उन्होंने सायणभाष्य के एकदेश का ग्रहण किया। श्रीअरविन्द लिखते हैं—

“यूरोपीय विद्वानों ने कर्मकाण्डीय परम्परा को तो सायण से लिया परन्तु अन्य बातों के लिए इसको (सायण को) नीचे धकेल दिया। और वे अपने ढंग से शब्दों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या को लेकर चलते गये, या अपने ही अनुमानात्मक अर्थों के साथ वैदिक मन्त्रों की व्याख्या करते गये और उन्हें एक नया ही रूप प्रदान कर दिया, जो प्रायशः उच्छृंखल तथा कल्पना-प्रसूत था।”

इसका परिणाम किस रूप में सामने आया, इसे श्रीअरविन्द इन शब्दों में बताते हैं—

“वेद में उन्होंने जो कुछ खोजा, वह था भारत का प्रारम्भिक इतिहास, इसका समाज, संस्थाएँ, रीति-रिवाज और उस समय की सभ्यता का चित्र। उन्होंने भाषाओं के विभेद पर आधारित एक मत, एक परिकल्पना को घड़ा कि उत्तर के आर्यों के द्वारा द्राविड भारत पर आक्रमण किया गया था, जिसकी स्वयं भारतीयों में कोई स्मृति या परम्परा नहीं मिलती और जिसका भारत के किसी महाकाव्य या प्रमाणभूत साहित्य में कहीं कुछ उल्लेख तक नहीं पाया जाता।... ये जंगली प्रार्थनाएँ ही बहुप्रशंसित, इतना महिमायुक्त बनाया हुआ और दिव्यत्वारोपित वेद हैं।”

अपने इन पूर्वनिश्चित मन्तव्यों की प्रतिष्ठा के लिए पाश्चात्य प्रज्ञा ने अपनी वेददृष्टि के लिए तीन शास्त्रों का आविष्कार किया—एक, तुलनात्मक भाषाशास्त्र, तुलनात्मक गाथाशास्त्र, तुलनात्मक धर्म का शास्त्र। श्रीअरविन्द इन तीनों शास्त्रों का खण्डन करते हैं कि ये केवल अटकल पर आधारित हैं। श्रीअरविन्द अपने ग्रीक व लैटिन आदि भाषाओं के अध्ययन के आधार बड़ी स्पष्टता से भाषाशास्त्र के निष्कर्षों की व्यर्थता को बतलाते हैं। भारत की भाषायी विविधता और समुदायों की विविधता को ही भारतीयता नाम की किसी वस्तु के होने के विरुद्ध खड़ा करने का काम ये तीन शास्त्र करते हैं। आज हम सर्वत्र छोटी-छोटी अस्मिताओं को लेकर गौरव व द्वेष के

उस भावद्वय को सरलता से पहचान सकते हैं, जो हमें बाँटता है तथा राष्ट्रीय दोषों व गुणों के लिए सामूहिक उत्तरदायित्व से मुख मोड़ना सिखाता है। वह इसी का परिणाम है।

फलतः, आधुनिक चिन्तन के आने के बाद वेद को लेकर यह समझ भारतीयों में सहज बन चुकी है कि—

1. मन्त्र के बाद, उपनिषद् उसकी प्रतिक्रिया में आयी है। मन्त्र ब्राह्मण कही जाने वाली जाति की थाति है और उपनिषद् क्षत्रिय नामक जाति की विचारधारा है। ब्राह्मण व क्षत्रिय कही जाने वाली दो जातियों को यहाँ आमने सामने खड़ा किया गया। बाद में उपनिषद् की प्रतिनिधि श्रमणधारा को कह दिया गया और ब्राह्मण—श्रमण विरोध को उभारा गया।
2. उत्तर भारतीय आर्य हैं और द्रविड दक्षिण भारतीय। वेद में कहे हुए दस्यु द्रविड ही हैं। ये दो नस्ल हैं। सवर्ण जातियाँ उत्तर के आर्य हैं और दलित कही जाने वाली जातियाँ दक्षिण के द्रविड हैं। वेद में जो दस्यु पर इन्द्र की विजय है, वह उत्तर भारतीय आर्यों की दक्षिण के द्रविडों पर विजय है। दक्षिण भारत उत्तर के आर्यों का उपनिवेश है। वेद आर्यों की औपनिवेशिकता का दस्तावेज है।
3. वेद के देव ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, यह पुराणों में कहा ही गया है। पाश्चात्य विद्वान् पुराणों को अविश्वसनीय घोषित करते हुए भी वेद के देवों के ऐतिहासिक व्यक्ति होने के उनके मत को प्रामाणिक मत के रूप में महत्त्व देते हैं, क्योंकि यह उनकी परियोजना के अनुकूल है।

श्रीअरविन्द स्पष्ट करते हैं कि वह स्वयं भी वेद के विषय में पाश्चात्य मत को मानने वाले थे, जब तक कि वेद को पढ़ा नहीं था। वह यह भी कहते हैं कि उन्हें वेद को पढ़ने की प्रेरणा दक्षिण भारत के लोक को देखने से मिली।

श्रीअरविन्द—भाष्य मन्त्र और उपनिषद् में एकतानता, निरन्तरता अर्थात् परम्परा का दर्शन करता है। यहाँ श्रीअरविन्द मन्त्रसंहिताओं से ब्राह्मण (विधि, आरण्यक, उपनिषद्—इस त्रयीरूप ब्राह्मण) को पृथक् तो मानते हैं, किन्तु उसमें वेद की निरन्तरता को देखते हैं। आर्य व द्रविड नस्ल को अस्वीकार करते हुए श्रीअरविन्द—भाष्य इस तरह के किसी इतिहास के वेद में होने का खण्डन करता है। यह अभिमत महर्षि दयानन्द संरस्वती के

मत का स्वीकार है। दयानन्द सरस्वती पुराणों के अन्य प्रकार के समस्त महत्त्वों को नहीं जानते होंगे, यह नहीं कहा जा सकता, अपितु यह कहना उचित होगा कि पुराणों द्वारा की गयी वेद-मीमांसा के दूषित और सर्वथा भ्रान्त होने से उन्हें पुराण संसार का "प्रथमं गप्पम्" प्रतीत हुआ। वेद को समझने में सबसे बड़ी बाधा पौराणिक बोध ही है और वे हमारे पतनोन्मुखी काल की रचनाएँ हैं, अतएव उनमें आयी हुई समस्त अच्छाई के बावजूद, वैदिक बोध में बाधकता के कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती उन्हें त्याज्य घोषित करते हैं। अतएव श्रीअरविन्द की वेद के देव के सम्बन्ध में क्या दृष्टि है, यह उनके भाष्य की दृष्टि को जानने की कुंजी है—

"...देवता मानवदेह में होने वाले ऐन्द्रियिक व्यापारों के प्रतीक हैं।"

इष्ठा व सरस्वती को श्रीअरविन्द पहले पौराणिक बोध से समझ रहे थे। वह कहते हैं कि तब तक उनके लिए सरस्वती विद्या की देवी थी और इष्ठा चन्द्रवंश की माता थी। वैदिक बोध के पश्चात् इष्ठा, सरस्वती और सरमा उनके लिए अन्तर्ज्ञानमयी बुद्धि के चार स्तरों में से क्रमशः तीन—स्वतः प्रकाश, अन्तः प्रेरणा, अन्तर्ज्ञान की प्रतीक हो जाती हैं। श्रीअरविन्द वेद और श्रुति में यह विवेक करते हैं कि मन्त्रसंहिताएँ ही वेद हैं, जबकि श्रुति में वेद की परम्परा भी शामिल है अर्थात् उपनिषदें भी श्रुति हैं। श्रुति के रूप में भारतीय विचारक मन्त्र से उपनिषद् तक की पूरी परम्परा को अखण्डित रूप में देखते हैं। पश्चिमी विद्वानों की इस धूर्तता को श्रीअरविन्द पकड़ते हैं, जो उपनिषदों के रचयिताओं पर वेद को महिमामण्डित करने का आरोप लगाते हैं। वे यह जतलाना चाहते थे कि वास्तव में तो वेद कहे जाने वाले मन्त्र नगण्य हैं, किन्तु परवर्ती उपनिषत्कारों ने उन पर अपने काल्पनिक अर्थों को चढ़ाकर उन्हें महान् बना रखा है। वेदान्त की दार्शनिक धारा इतनी व्यवस्थित और कुशाग्र है कि उसे निरस्त करना उनके लिए सम्भव नहीं था और न वे इस दार्शनिक धारा के स्रोत उपनिषद् को निरस्त कर पाते थे। फलतः, उपनिषदों के स्वीकार की आड़ में वेद की तुच्छता प्रतिपादित करने के उनके प्रयत्न थे—

"तो क्या वेदविषयक यह परम्परा केवल गप्प और हवाई कल्पना है, या बिल्कुल निराधार बल्कि मूर्खतापूर्ण बात है ? अथवा क्या यह तथ्य है कि वेद के बाद के कुछ मन्त्रों में उच्च विचारों का जो एक केवल क्षुद्र—सा

भाग है, उसी के कारण यह परम्परा चली ? क्या उपनिषदों के रचयिताओं ने वैदिक ऋचाओं पर वह अर्थ मढ़ दिया है जो वहाँ असल में कहीं नहीं है, क्या उन्होंने अपनी कल्पना के द्वारा तथा मनमौजी व्याख्या के द्वारा उनमें से वह अर्थ निकाल लिया है ? आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् आग्रह करते हैं कि यह ऐसी ही बात है।”

इतना कहने के बाद श्रीअरविन्द जिस वाक्य को लिखते हैं, वह इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह वाक्य यह है कि आधुनिक भारतीय मन को भी उन्होंने प्रभावित कर लिया है। पाश्चात्य मत के विपरीत महर्षि अरविन्द के अनुसार वेद ऐतिहासिक संघर्षों के दस्तावेज नहीं हैं और उनमें एक नस्ल के द्वारा दूसरी नस्ल पर विजय नहीं दिखायी गयी है। वेद की पूरी संरचना प्रतीकों में बनी है। भारत में आर्य और द्रविड नामक दो नस्लें नहीं हैं। वेद आर्य नस्ल द्वारा द्रविड नस्ल पर विजय की गाथा नहीं है। उपनिषदें एक सातत्य, परम्परा के भीतर हैं, न कि वेद के विरुद्ध विद्रोह। उपनिषद् और मन्त्र एक ही परम्परा है। श्रीअरविन्द की भारतीय संस्कृति को समझने की पूरी दृष्टि इस पूरे वाक्य में समा गयी है—“वेद में एक गुह्य तत्त्व है और वह भारतीय सभ्यता, भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति का मूल स्रोत है।” महर्षि अरविन्द वेद के वचनों को गुह्य वचन (“निष्ठा वचांसि”) कहते हैं। पाश्चात्य व्याख्याकारों ने जिन मन्त्रों की नस्लवादी व्याख्याएँ कीं, उनके बारे में श्रीअरविन्द का मत है—“...कई बार तो अपने प्रतीकों के आन्तरिक अर्थों के विषय में ऋषियों के अपने सुस्पष्ट कथन मिल ही जाते हैं—और यदि हम अर्थपूर्ण कथानकों और रूपकों की व्याख्या उसी अभिप्राय में करें, जिस पर वे बार-बार लौट आते हैं, जैसे वृत्र पर विजय और वृत्रों (वृत्र की शक्तियों) के साथ युद्ध, सूर्य की, जलों की और गौओं की पणियों तथा अन्य दस्युओं से पुनर्मुक्ति, तो सम्पूर्ण ही ऋग्वेद अपने आपको ऐसे सिद्धान्त और साधनाभ्यास की पुस्तक के रूप में प्रकट कर देगा, जो (सिद्धान्त) निगूढ़, गुह्य, आध्यात्मिक है...”

वेद (ऋग्वेद) की यह व्याख्या पद्धति सायणाचार्य से बहुत प्राचीन काल में रही है और यास्क के निरुक्त में इसे देखा जा सकता है। श्रीअरविन्द उपनिषद् (जो कि ब्राह्मण का भाग है) में इस व्याख्या पद्धति को देखते हैं। श्रीअरविन्द इसी परम्परा को ग्रहण करके यज्ञ को समझाते हैं—“हमारा यज्ञ एक यात्रा है, तीर्थयात्रा है और एक युद्ध है—देवों के प्रति गमन है और हम

भी उस यात्रा को करते हैं अग्नि को, आन्तरिक 'ज्वाला' को अपना मार्गशोधक और नेता (अग्रणी) बनाकर। हमारी मानवीय वस्तुएँ उस रहस्यमय अग्नि के द्वारा अमर सत्ता के अन्दर, बृहद् द्यौ के अन्दर उठायी जाती हैं, उठाकर लायी जाती हैं और दिव्य वस्तुएँ हमारे अन्दर नीचे उतरकर आती हैं।¹”

यहाँ वेद के “अग्नि, यज्ञ, बृहद् द्यौ” का स्पष्टीकरण हो जाता है। श्रीअरविन्द के भाष्य की यह वह मूलदृष्टि है, जिससे उनके द्वारा किया गया पूरा भाष्य प्रकाशित है। उनके लिए वेदार्थ “रहस्य” है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों के लिए ऐतिहासिक काल को जानने का एक दस्तावेज है। हमें यहाँ जानना चाहिए कि वेद का पाश्चात्य दृष्टि से भी अध्ययन भारतीय विद्वानों द्वारा किया गया है। हमारे सामने यह प्रश्न अवश्य आएगा कि क्या रहस्यमूलक वेदार्थ के होते हुए भी क्या उसमें क्या लोक—जीवन नहीं है ? और, यदि है तो क्या पाश्चात्य विद्वानों पर आक्षेप अनुचित नहीं है ? लोक है, लोकजीवन है, किन्तु ऋषि का तात्पर्य वहीं तक नहीं है। ऋषि किसी रहस्यार्थ को प्रतिपादित करते हैं। द सीक्रेट ऑफ वेदाज—यह नाम ही श्रीअरविन्द के वेदभाष्य की वेददृष्टि का परिचायक है।

श्रीअरविन्द भाष्य भारत की औपनिवेशिक व्याख्या का प्रतिरोध करता है। श्रीअरविन्द आर्य और दस्यु के अर्थों की पूरे वेद में पड़ताल करते हैं। इन दो शब्दों की निर्भ्रान्त स्पष्टता उनके भाष्य की महत्तम सिद्धि, कृतकृत्यता है। अक्रतु और अयज्यु पणियों या दस्युओं से सुक्रतु और सुयज्यु आर्यों के भेद के आधार को श्रीअरविन्द ने स्पष्ट जान लिया है और यह दर्शन ही उनका ऋषित्व है। कह सकते हैं कि—आर्यदस्यवोरर्थदर्शनाद् ऋषिः श्रीअरविन्दः। श्रीअरविन्द के अनुसार शब्द (दिव्य शब्द) ब्रह्म है और उसका गायक ब्रह्मा है। जो ब्रह्म अर्थात् शब्द से द्वेष करने वाले हैं, वे ही ब्रह्मद्विष दस्यु या पणि हैं। श्रीअरविन्द लिखते हैं—“और पणियों को हम संभवतः यह समझ सकते हैं कि ये वे शक्तियाँ हैं, जो जीवन की सामान्य अप्रकाशमान इन्द्रिय—क्रियाओं की अधिष्ठात्रियाँ हैं, जिनका सीधा मूल अन्धकारमय अवचेतन भौतिक सत्ता में होता है, न कि दिव्य मन में।”

यह कथन गहन है। रूप—रस—गन्ध—शब्द—स्पर्श आदि क्रियाएँ ही हमारा जीवन है, जो अप्रकाशमान है—एक प्रवाह में गति करने से। पणियों या दस्युओं का सम्बन्ध इन्हीं से है। इस कथन से आगे लिखते हुए

श्रीअरविन्द स्पष्ट करते हैं कि वस्तुतः वेद में आर्य किन्हें कहा गया है—“मनुष्य का सारा संघर्ष इसके लिए है कि वह इस क्रिया को हटाकर इसके स्थान पर मन और प्राण की प्रकाशयुक्त दिव्य क्रिया ले आये जो ऊपर से और मानसिक सत्ता के द्वारा आती है। जो कोई इसके लिए अभीप्सा रखता है, इसके लिए यत्न करता है, युद्ध करता है, यात्रा करता है, जीवन की पहाड़ी पर आरोहण करता है, वह है आर्य।”¹⁰ यह अर्थदर्शन श्रीअरविन्द का ऋषित्व है।

श्रीअरविन्द—भाष्य पौराणिकों और आर्यसमाज दोनों की वेददृष्टि से प्रत्यग्र और मौलिक है। पौराणिकों के लिए अग्नि यज्ञकुण्ड में जल रही भौतिक अग्नि है तो आर्यसमाजियों के लिए वह (अग्नि) कोई वैज्ञानिक तत्त्व है। श्रीअरविन्द इन दोनों मतों को वेदार्थ नहीं मानते हैं। अग्नि कौन है, इस पर विचार करते हुए वह कहते हैं—“यह यज्ञ की अग्नि नहीं है जो इन सब कार्यों को कर सके, न ही यह कोई भौतिक ज्वाला अथवा भौतिक ताप और प्रकाश का कोई तत्त्व हो सकता है। ...यह स्पष्ट है कि हमारे सामने एक रहस्यमय प्रतीकवाद है, जिसमें अग्नि, यज्ञ, होता, ये सब एक गम्भीरतर शिक्षण के केवल बाह्य अलंकारमात्रल हैं और फिर भी ऐसे अलंकार हैं, जिनका अवलम्बन करना और निरंतर अपने सामने रखना आवश्यक समझा गया था।”¹¹

“यह (अग्नि) वह दिव्य शक्ति है जो लोकों का निर्माण करती है, वह शक्ति है जो सर्वदा पूर्ण ज्ञान के साथ क्रिया करती है, क्योंकि यह जातवेदस् (जातवेदाः) है, सब जन्मों को जानने वाली है, ‘विश्वानि वयुनानि विद्वान्’—यह सब व्यक्त रूपों और घटनाओं को जानती है अथवा दिव्य बुद्धि के सब रूपों और व्यापारों से यह युक्त है।”¹²

इस विचार की पद्धति से श्रीअरविन्द वेद (ऋग्वेद को ही वह वेद कहते हैं।) के प्रथम सूक्त (अग्निसूक्त) की चार ऋचाओं के अर्थ का तात्पर्य इस रूप में पाते हैं—“अतिमानस और दिव्य ‘सत्य-चेतना’ का विचार, ‘सत्य’ की शक्तियों के रूप में देवताओं का आवाहन, इसलिए कि मर्त्य मन के मिथ्या रूपों में से निकालकर ऊपर उठाये, इस सत्य के अन्दर और इसके द्वारा पूर्ण भद्र और कल्याण की अमर अवस्था को पाना और दिव्य पूर्णता के साधन के रूप में मर्त्य का अमर्त्य के प्रति आभ्यन्तर यज्ञ करना तथा उसके पास जो कुछ है एवं वह अपने आप जो कुछ है, उसका उस यज्ञ में हवि—

रूप में उत्सर्ग कर देना। शेष सब वैदिक विचार अपने आध्यात्मिक रूपों में इन्हीं केन्द्रभूत विचारों के चारों तरफ एकत्रित हो जाते हैं।¹³”

ऋत और सत्य के विचार में अग्नि, मित्र, वरुण आदि देवताओं की व्याख्या श्रीअरविन्द भाष्य में हो जाती है। “मित्रं हुवे पूतदक्षं, वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता।। (1.2.7)” का भाष्य करते हुए श्रीअरविन्द मित्र के विशेषण पूतदक्ष और वरुण के विशेषण रिशादस पर विचार करते हुए कहते हैं—“दो बाधाएँ आती हैं, जो बुद्धि को ‘सत्य-चेतना’ का पूर्ण और प्रकाशमय दर्पण बनने से रोकती हैं। पहली तो है विवेक या विवेचनाशक्ति की अपवित्रता जिसका परिणाम ‘सत्य’ में गड़बड़ी पड़ जाना होता है। दूसरे वे अनेक कारण या प्रभाव हैं जो ‘सत्य’ के पूर्ण प्रयोग को सीमा में बाँधकर अथवा इसे व्यक्त करने वाले विचारों के सम्बन्धों और सामंजस्यों को तोड़कर सत्य की वृद्धि में हस्तक्षेप करते हैं और इस प्रकार, परिणामतः, इसके विषयों में दरिद्रता और मिथ्यापन ले आते हैं। जैसे जैसे देवता वेद में ‘सत्य-चेतना’ से अवतरित हुई उन विश्वव्यापी शक्तियों के प्रतिनिधि हैं जो लोकों के सामंजस्य का और मनुष्य में उसकी वृद्धिशील पूर्णता का निर्माण करती हैं, ठीक वैसे ही जो विरोधी शक्तियाँ इन उद्देश्यों के विरोध में काम करने वाले प्रभावों का प्रतिनिधित्व करती हैं वे ‘दस्यु’ और वृत्र हैं, जो तोड़ना, सीमित करना, रोक रखना और निषेध करना चाहती है। वरुण की वेद में सर्वत्र यह विशेषता दिखलायी गयी है कि वह विशालता तथा पवित्रता की शक्ति है; इसलिए जब वह मनुष्य के अन्दर ‘सत्य’ की जागृत शक्ति के रूप में आकर उपस्थित हो जाता है तब उसके संस्पर्श से वह सब जो दोष, पाप, बुराई के प्रवेश द्वारा स्वभाव को सीमित करने वाला और क्षति पहुंचाने वाला होता है, विनष्ट हो जाता है। वह रिशादस् है, शत्रुओं का, उन सबका जो वृद्धि को रोकना चाहते हैं, विनाश करने वाला है। मित्र जो वरुण की तरह ‘प्रकाश’ और ‘सत्य’ की एक शक्ति है, मुख्यतया ‘प्रेम’, ‘आह्लाद’, ‘समस्वरता’ का द्योतक है, जो वैदिक निःश्रेयस् मयस् का आधार हैं। वरुण की पवित्रता के साथ कार्य करता हुआ और उस पवित्रता को विवेक में लाता हुआ वह विवेक को इस योग्य कर देता है कि यह सब बेसुरेपन और गड़बड़ी से मुक्त हो जाये तथा दृढ़ और प्रकाशमय बुद्धि के सही व्यापार को स्थापित कर सके।¹⁴”

वेदार्थ क्या है, यह श्रीअरविन्द-भाष्य के इन कुछ उद्धरणों से हम अनुमान कर सकते हैं। वेदार्थ करने की वह पूरी दृष्टि ही यहाँ निरस्त हो जाती है, जो वेद में ऐतिहासिक संघर्षों की कहानी को आधार बनाकर रची जाती है। वेद हमारे सामने अध्यात्म की गंभीर कृति के रूप में आते हैं। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का प्रथम मन्त्र पाठ्यक्रमों में निर्धारित होने से सुप्रसिद्ध है—अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।

श्रीअरविन्द भाष्य इस मन्त्र के पुरोहितम् को समस्तपद नहीं, अपितु दो पद मानता है। पुरः अर्थात् सम्मुख हितः अर्थात् निहित या रखा हुआ। इन दोनों शब्दों का अर्थ होता है—सामने रखा हुआ अग्नि। इस तरह ऋग्वेद के वेदार्थ पर विचार की मौलिक दृष्टि श्रीअरविन्द भाष्य देता है। किन्तु, हमें यह ध्यान रहना चाहिए कि श्रीअरविन्द पूरे ऋग्वेद पर काम करने की दृष्टि ही देकर गये हैं, उस दृष्टि से करने योग्य कार्य को परवर्ती पीढ़ियों के लिए छोड़ गये हैं।

श्रीअरविन्द का समग्र बौद्धिक कर्म योरोपीय औपनिवेशिक विमर्श के द्वारा भारतीयों के मन में पैदा हुए वैमनस्य और अविश्वास के मूल कारणों की समझ प्रदान करता है। श्रीअरविन्द का वेदभाष्य हमारे लिए तभी खुल सकेगा, जब हम उनके लोकभाष्य को समझने का यत्न करेंगे। श्रीअरविन्द प्राचीन भारत के नहीं, जीवन्त (वर्तमान) भारत के व्याख्याकार है। भारतीय कला, भारतीय साहित्य, भारतीय सभ्यता और भारतीय शासन व्यवस्था पर लिखे उनके निबन्धों में वेद स्वयं लोक में उतरता है। श्रीअरविन्द जिस अध्यात्म के व्याख्याता हैं, वह जीवन के लिए है, जीवन से परे नहीं। श्रीअरविन्द कहते हैं—“उपनिषदों ने जीवन से इंकार नहीं किया, वरन् वे तो यह मानती थीं कि जगत् शाश्वत ब्रह्म की अभिव्यक्ति है,....बौद्धधर्म इसके बाद आया और उसने इन प्राचीन शिक्षाओं के एक ही पहलू को ग्रहण कर जीवन की अनित्यता और सनातन की नित्यता के बीच एक तीव्र आध्यात्मिक और बौद्धिक विरोध की सृष्टि की, जिसने वैराग्यवादीय अति को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया और उसे एक सिद्धान्त का रूप दे डाला। परन्तु समन्वयशील हिंदू मन ने इस निषेध के विरुद्ध संघर्ष किया और अन्त में बौद्धधर्म को बहिष्कृत कर दिया।”

बौद्ध मत का भारत से ह्रास क्यों हुआ, यह हमारे लिए यहाँ विवेच्य नहीं है। यहाँ प्रासंगिक है कि श्रीअरविन्द पार्थिव जीवन को स्वीकारते हैं या

नहीं, इसकी पड़ताल करना। इस उद्धरण से हम स्पष्ट समझ सकते हैं कि जीवन के प्रति निषेधात्मक दृष्टि की पराकाष्ठा तक पहुँचे “वैराग्य” को भी वह अस्वीकार करते हैं। सबसे मुख्य जीवन है। उससे अधिक पवित्र और परम कुछ भी नहीं है। प्रसंगवश, यह भी हमें यहाँ कहना चाहिए कि जीवन को प्रधानता देने से श्रीअरविन्द जीवन्त (वर्तमान) भारत मन के प्रतिनिधि हैं। यदि किसी को श्रीअरविन्द में अतीतबद्धता दिखती है तो यह उनकी दृष्टिहीनता ही है। अथवा जिन्हें अतीत—मुग्धता के कारण श्रीअरविन्द श्रद्धेय व रम्य लगते हों, उनके लिए श्रीअरविन्द का प्रकाश कभी प्राप्तव्य नहीं हो सकता है। श्रीअरविन्द कहते हैं—“यदि वह (जाति/राष्ट्र) केवल मृत युग की शक्तियों को ही स्नेह के साथ संजोये और भविष्य की शक्तियों को अपने से दूर हटा दें, यदि अतीत जीवन को भावी जीवन की अपेक्षा अधिक पसंद करें, तो कोई भी चीज अवश्यम्भावी विघटन या विध्वंस से उसकी रक्षा नहीं कर सकेगी, यहाँ तक कि विपुल शक्ति, साधन संपदा और बुद्धि, जीवन के लिए आह्वान करने वाली शत-शत पुकारें और निरन्तर प्रदान किये गये अवसर भी उसे विनाश से नहीं बचा सकेंगे।”

इतनी कठोर और स्पष्ट चेतावनी श्रीअरविन्द देते हैं कि उसका प्रभाव परवर्ती भारत पर होता है और वह अपने जीवन के लिए पूरी नयी संरचना को बनाता है। श्रीअरविन्द के अनुसार जीवन के लिए हमें नये क्रियाशील सत्त्यों की खोज करनी होती है और वे प्राचीन आदर्श के सीमित सत्य के घेरे में आबद्ध हों, यह आवश्यक नहीं।”

श्रीअरविन्द एक कल्पना हमें देते हैं कि दार्शनिक युग के एक ग्रीक और उपनिषत्काल के एक भारतीय को यदि इस समय लाया जाए तो उन दोनों की अपने अपने विश्व के प्रति क्या प्रतिक्रियाएँ होंगी। ग्रीक की प्रतिक्रिया का अनुमान वह इस तरह करते हैं कि वह तीन प्रकार से प्रतिक्रिया देगा। पहली प्रतिक्रिया आश्चर्यचकित होकर सराहना की होगी, दूसरी प्रतिक्रिया में वह पहले की भाँति विस्मित और मुग्ध न होकर अभिभूत और विमूढ़ होगा। तीसरी प्रतिक्रिया में वह मुँह फेर लेगा। श्रीअरविन्द कहते हैं कि बुद्धि की अपरिमित प्राप्तियों, मन के विस्तार, जिज्ञासा की अक्षय प्रवृत्ति और अनंत सिद्धान्तों की रचना करने और विवरण देने की शक्ति से आश्चर्यचकित रह जाएगा और विज्ञान की उन्नति, आविष्कारों, यंत्रों की सूक्ष्मता और आविष्कारों की अद्भुत—कर्मा शक्ति की सराहना करेगा, परन्तु

आधुनिक जीवन की विराट् हलचल पर वह मुग्ध नहीं होगा, उससे विमूढ़ होगा एवं इसकी कुरूपता, असभ्यता, इसके विकृत बाह्य उपयोगितावाद, प्राणिक भोगों के लिए कलह-कोलाहल आदि को देखकर वह घृणा से मुँह मोड़ लेगा।¹⁸

श्रीअरविन्द कहते हैं कि यदि उपनिषत्काल, बौद्धकाल या परवर्ती उच्च साहित्यिक युग के भारतीय को आधुनिक भारत में लाया जाए तो उसे और भी अधिक विषादकारी अनुभव होगा—“उसे यह देखकर आश्चर्य होगा कि जब इन लोगों को प्रेरित करने, ऊँचे उठाने तथा और भी महत्तर पूर्णता एवं आत्म-अतिक्रमण की ओर ले चलने के लिये इतना अधिक मौजूद था तब भला कैसे ये इस निःशक्त और जड़ अस्तव्यस्तता में आ गिरे और,...यह देखेगा कि मेरी जाति भूतकाल के बाह्य आचारों, खोखली और जीर्ण-शीर्ण वस्तुओं से चिपकी हुई है और अपने उदात्ततर तत्त्वों का नौ-दशांश खो बैठी है।... जो महान् सभ्यता अपने को अवस्थाओं के अनुकूल बनाने में पटु थी, जो दूसरों से ग्रहण की हुई वस्तु को आत्मसात् करने और फिर उससे दस गुना प्रतिदान करने की क्षमता रखती थी, उस सभ्यता के स्थान पर वह एक ऐसी असहाय सभ्यता को देखेगा जो बाह्य जगत् की शक्तियों को और विरोधी परिस्थिति के दबाव को निष्क्रिय भाव से या केवल कुछ एक निष्प्रभावी आकस्मिक प्रतिक्रियाओं के साथ सहन करती है।¹⁹”

श्रीअरविन्द जैसा सत्यान्वेषी ऋषि अच्छी तरह जानता है कि “यह दावा करना सर्वथा निरर्थक है कि प्राचीन युग की, यहाँ तक कि उसके अत्यंत गौरवमय काल की भी, सभी वस्तुएँ पूर्ण रूप से सराहनीय थीं और वे मानव मन एवं आत्मा की परमोच्च कोटि की प्राप्तियाँ थीं।... न तो हमें अपने अधःपतन, की झूठी बड़ाई करनी चाहिये या उसपर मुलम्मा ही चढ़ाना चाहिये और न ही विदेशियों की वाहवाही लूटने के लिये अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी मारनी चाहिये, बल्कि हमें अपनी असली दुर्बलता तथा इसके मूल कारणों की ओर ध्यान देना चाहिये, पर साथ ही अपने शक्तिदायी तत्त्वों एवं अपनी स्थायी शक्यताओं पर और अपना नव-निर्माण करने की अपनी क्रियाशील प्रेरणाओं पर हमें और भी दृढ़ मनोयोग के साथ अपनी दृष्टि गड़ानी चाहिये।²⁰”

श्रीअरविन्द की आर्षदृष्टि सर्वस्वीकार या सर्वनकार की अविवेकिता, अनोचनात्मक दृष्टि से सहमत नहीं है। वह विचार और उसके

निर्णयानुसार ग्रहण और त्याग की दृष्टि को महत्त्व देती है। श्रीअरविन्द ने भारत के लिए जो "मार्ग" खोजा है, वह है—“हम जो कुछ है और जो कुछ बन सकते हैं एवं जो कुछ बन सकने का हमें यत्न करना चाहिए— इन दोनों के बीच की बड़ी भारी खाई को हमें देखना—समझना होगा। परन्तु यह हमें किसी प्रकार के अनुत्साह के भाव के साथ या अपने अस्तित्व से या अपनी आत्मा के सत्य के इनकार करने की वृत्ति को लेकर नहीं करना होगा, बल्कि यह देखने के लिए करना होगा कि हमें अभी कितनी दूर तक प्रगति करनी है।...अज्ञानपूर्ण पाश्चात्य आलोचना के विरुद्ध अपनी संस्कृति के समर्थन करने और आधुनिक युग के भीषण दबाव से इसकी रक्षा करने का साहस सबसे पहली वस्तु है, परन्तु इसके साथ ही अपनी संस्कृति की भूलों को, किसी यूरोपियन दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि अपने निजी दृष्टिकोण से स्वीकार करने का साहस भी होना चाहिए। अवनति या विकृति से संबंधित समस्त बातों को एक ओर छोड़ देने पर भी हमारे जीवन—संबंधी सिद्धांतों और सामाजिक प्रथाओं में कुछ ऐसी चीजें हैं जो अपने—आपमें भ्रांत हैं, उनमें से कुछ एक तो समर्थन के भी योग्य नहीं हैं, वे हमारे जातीय जीवन को दुर्बल करने वाली, हमारी सभ्यता को नीचे गिराने वाली तथा हमारी संस्कृति की प्रतिष्ठा नष्ट करने वाली हैं। उन चीजों से हमें किसी प्रकार के कुतर्क के द्वारा इन्कार न करके उन्हें स्वीकार करना चाहिये। अस्पृश्यों के साथ हम जो व्यवहार करते हैं उसमें हमें ऐसी चीजों का एक ज्वलंत दृष्टांत मिल सकता है। कुछ लोग ऐसे हैं जो इसे यह कहकर क्षम्य समझेंगे कि भूतकाल की अवस्था में इस भूल का होना अनिवार्य ही था और कुछ ऐसे हैं जो यह युक्ति देते हैं कि उस समय जो अच्छे—से—अच्छा समाधान हो सकता था वह यही था। फिर कुछ ऐसे भी हैं जो इसे उचित सिद्ध करना चाहेंगे और, चाहे किन्हीं संशोधनों के साथ, हमारे सामाजिक संघठन के आवश्यक अंग के रूप में इसे बनाये रखना चाहेंगे। इसके लिये कुछ बहाना था तो सही पर वह इसे जारी रखने का कोई उचित कारण नहीं हो सकता। हाँ, इसके पक्ष में जो तर्क उपस्थित किया जाता है वह अत्यंत विवादास्पद है। एक ऐसा समाधान जो जाति के छठवें भाग को स्थायी अपमान, सतत अपवित्रता, आंतर और बाह्य जीवन की अस्वच्छता और क्रूर पशुसम जीवन से ऊपर उठाने के बजाय उसे शेष जाति से अलग करने का दंड देता है, कोई समाधान नहीं है, बल्कि अपनी दुर्बलता को स्वीकार करना है, और वह

समाज की देह तथा इसके समष्टिगत आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक एवं भौतिक उन्नति के लिये एक स्थायी घाव है। जो समाज संघटन हमारे कुछ मनुष्य-भाइयों और देशवासियों की अवनति का स्थायी नियम बनाकर ही जीवित रह सकता है वह स्वयमेव दूषित ठहरता है और क्षीण एवं अस्तव्यस्त होना ही उसके भाग्य में बदा होता है।²¹”

वर्ण व्यवस्था के वर्तमान स्वरूप को वह हमारे समाज के सबसे बड़ी अव्यवस्था मानते हैं और यह भी कहते हैं कि वैदिक जीवन के बाद के सहस्र वर्षों पश्चात् पौराणिक युग में उसकी जो व्याख्या की गयी, वह आर्थिक व्याख्या थी और उसमें वैदिक जीवन का कोई तत्त्व नहीं शेष नहीं रहा। यह केवल एक निदर्शन है। कला, सभ्यता, साहित्य और जीवन पर समग्रता से वह विचार करते हैं। न केवल भारत राष्ट्र में मानसिक विभाजन के कारणों की पहचान श्रीअरविन्द करवाते हैं, अपितु वह पूरे विश्व में व्याप्त विभाजक दृष्टि की पहचान करते हैं। आज हम स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं कि जिसे वैज्ञानिकता कहा गया, वह प्रौद्योगिकी हमारे जीवन से भी बड़ी हो जाने से राक्षसी हो चुकी है और इस अन्तहीन राग या लालसा से आज हम विश्वयुद्ध के कगार पर हैं। लाखों या करोड़ों लोगों के जीवन के मूल्य पर पूँजी जोड़ने की होड़ थम नहीं रही है। दिखलायी पड़ते युद्धों की दहलाने वाली भीषणता तो है ही, उनसे भी अधिक क्रूर और भीषण वे सूक्ष्म और गुप्त षड्यन्त्र हैं, जिनकी व्याख्या भी करना सम्भव नहीं है। विश्व के पास आज कौन सी मूल दृष्टि है, जो इस विभाजन और विनाश का कारण है। तथा वह कौन सी दृष्टि हो सकती है, जिससे हम यान्त्रिक हो रहे जीवन को मनुष्य जीवन बना सकें, यह गवेषणीय है। श्रीअरविन्द “मनुष्य-दास या स्वतन्त्र?” नामक निबन्ध में मनुष्य की दासता और स्वतन्त्रता के मूल कारणों की खोज करते हुए राक्षस की तरह विशालकाय हो रहे भौतिकवाद की काट बताते हैं-“..जड-तत्त्व की उत्पत्ति मन से हुई है, न कि मन की उत्पत्ति जड-तत्त्व से। यह योग की निश्चयात्मक खोज है और भौतिकवाद की अन्तिम काट है।”²²

आलेख में लम्बे लम्बे उद्धरण, जो कि मेरी अक्षमता तो है ही, साथ-साथ विवशता भी, कि जहाँ श्रीअरविन्द भारत को गंभीरता से देखने, पहचानने का प्रयत्न करते हैं और उस पर लिखते हैं, वहाँ भारत ने उनके लेखन को ठीक से देखने, पहचानने का प्रयत्न किया है, यह नहीं कहा जा

सकता है। वस्तुतः, श्रीअरविन्द के समग्र जीवन में अन्विति है। उनकी क्रान्तिकारी होकर लड़ी गयी लड़ाई से लेखन के माध्यम से लड़ी गयी लड़ाई भिन्न नहीं है। उनका वेदभाष्य और अन्य समस्त लेखन, उनके जीवन में एकान्वित है। कोई भी पारम्परिक प्रज्ञा का धनी पण्डित पूछें कि श्रीअरविन्द को ऋषि कहा जाता है तो वह किन सूक्तों या किन मन्त्रों के द्रष्टा हैं तो उत्तर होगा कि श्रीअरविन्द भारतीय लोक और भारतीय वेद—इन दो मन्त्रों के द्रष्टा हैं। श्रीअरविन्द समस्त, पूर्ण भारत के ऋषि हैं।

173, शास्त्रीनगर, साँचोर
जिला साँचोर, राज. 343041

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी —

1. प्राक्कथन, वेद रहस्य, पृ.12, द्वितीय संस्करण 2014, अनुवादक आचार्य अभयदेव विद्यालंकार, जगन्नाथ विद्यालंकार, श्रीअरविन्द आश्रम, पाँडिचेरी
2. वही, पृ. 3
3. वही, पृ. 3
4. वही, पृ. 43
5. वही, पृ. 2
6. वही, पृ. 10
7. वही, पृ. 13
8. वही, पृ. 25
9. वही, पृ. 349
10. वही, पृ. 349
11. वही, पृ. 119
12. वही, पृ.121
13. वही, पृ.125
14. वही, पृ.134
15. भारतीय संस्कृति के आधार, अनुवादक जगन्नाथ वेदालंकार और चन्द्रदीप त्रिपाठी, तृतीय आवृत्ति, 2017, श्रीअरविन्द आश्रम, पाँडिचेरी, पृ. 201
16. वही, पृ. 36
17. वही, पृ. 42

18. वही पृ. 32

19. वही, पृ. 32

20. वही, पृ. 39

21. वही, पृ. 41-42

22. मानव-चक्र, श्रीअरविन्द, श्रीअरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, तृतीय संस्करण, पृ. 309

प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे का पथिकृत वृत्तान्त

अम्बिकादत्त शर्मा

सारस्वती के वरद—पुत्र प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे (1923–2011) का जन्म इलाहाबाद में हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से इतिहास विषय में एम.ए. (1944) एवं डि—फिल् (1947) की उपाधि प्राप्त कर वहीं इतिहास विभाग में लेक्चरर (1947) के रूप में पदस्थापित हुए। उनकी सारस्वत साधना और नानाशास्त्र प्रक्षालित मतिवैभव से युक्त परिपृच्छाधर्मी ज्योतिरग्र अनुसन्धान यात्रा का यही संस्थागत आरम्भ बिन्दु है। विभिन्न कालावधियों में वे गोरखपुर, राजस्थान एवं पुनः इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन और शोधपरक गवेषणाओं में निरत रहे। साथ ही साथ बहुविध अकादमिक प्रशासनिक दायित्वों का सफलतापूर्वक निर्वाह भी किया। 1974 से 1978 तक राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के कुलपति और 1993 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति का तात्कालिक पदभार भी सम्भाला। भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् के प्रथम नेशनल फैलो, विजिटिंग गायकवाड़ प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं मानद फैलो, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के रहे। राजस्थान इतिहास परिषद्, अखिल भारतीय दर्शन परिषद् (बड़ौदा एवं पुणे अधिवेशन) इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चरल सोसायटी, इण्डियन आक्योलॉजिकल सोसायटी, इण्डियन आर्ट हिस्ट्री सोसायटी जैसे संगठनों ने अध्यक्ष बनाकर उनकी अध्येतृता को सम्मानार्ह बनाया है। इलाहाबाद संग्रहालय और भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला ने भी उन्हें अध्यक्ष बनाकर अपने को गौरवान्वित किया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, पंजाब विश्वविद्यालय, केन्द्रीय उच्च तिब्बती संस्थान, सारनाथ और नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा ने उन्हें डि—लिट् की मानद उपाधि प्रदान कर उनकी सारस्वत—साधना का मान रखा है। अनेक संस्थानों ने उन्हें विद्यावारिधि, साहित्य वाचस्पति, वाक्पति और

उन्मीलन—वर्ष 39, अंक 1, जनवरी—जून 2025

ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

महामहोपाध्याय की पदवी भी प्रदान की है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को शंकर सम्मान, विज्ञान दर्शन सम्मान, मूर्तिदेवी सम्मान, श्रीवाणी न्यास अलंकार सम्मान, मंगला प्रसाद पारितोषिक सम्मान, विश्वभारती सम्मान एवं कबीर सम्मान से भी विभूषित किया गया है।

I

प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे का अध्ययन क्षेत्र और रचनाधर्मिता का आयाम इतना व्यापक एवं विस्तृत रहा है कि वह सब मिलकर समवेत रूप में एक वाङ्मय का आकार ग्रहण करता है। प्राचीन आचार्यों में अभिनवगुप्त का स्मरण करते हुए उन्हें बीसवीं शताब्दी का अभिनवगुप्त कहे जाने में कोई अतिशयोक्ति मुझे प्रतीत नहीं होती। भारतीय परम्परा को समर्पित आधुनिक समय के स्वनामधन्य विद्वानों की टोली में उन्हें, सुनीति कुमार चटर्जी, वासुदेवशरण अग्रवाल, गोपीनाथ कविराज, गंगानाथ झा एवं एच. नाकामुरा सदृश प्राच्यविद्, इतिहासविद्, दार्शनिक और अग्रकोटि के विचारक के रूप में सुमार किया जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र में — मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर, मूल्यमीमांसा, शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ, लाइफ एण्ड थॉट ऑफ शंकराचार्य, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, स्टडिज ऑन महायान, न्यायबिन्दु (हिन्दी अनुवाद), अपोहसिद्धि (हिन्दी अनुवाद), भक्ति दर्शन विमर्शः, सौन्दर्य दर्शन विमर्शः, एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति, कॉन्शसनेस वैल्यु कल्चर और भारतीय परम्परा के मूलस्वर — इत्यादि उनकी बहुमान्य कृतियाँ हैं, जो भारतीय ज्ञान-परम्परा को सातत्य प्रदान करते हुए उसके क्षैतिज विस्तार को समयानुकूल बनाती हैं। संस्कृति और इतिहास के क्षेत्र में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान को — द ऑरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म, फॉउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर, वैदिक संस्कृति, भारतीय समाज : तात्त्विक और एतिहासिक विवेचन, श्रमणिज्म एण्ड इट्स इम्पैक्ट ऑन इण्डियन कल्चर, जैन पॉलिटिकल थॉट और इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त — इत्यादि के माध्यम से रेखांकित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दो बृहत्काय ग्रन्थ — डॉन ऑफ इण्डियन सिविलायजेशन और गोल्डेन चेन ऑफ सिविलायजेन : इण्डिक, ईरानिक, सिमेन्टिक एण्ड हेलेनिक — का सम्पादन उन्होंने भारतीय विज्ञान, दर्शन और संस्कृति के इतिहास नामक राष्ट्रीय परियोजना के अन्तर्गत किया है। एक कवि के रूप में उनकी काव्यमयी प्रतिभा — अग्निबीज, क्षण और लक्षण, हंसिका, जया,

महिलाएँ, भागीरथी और अस्ताचलीयम् — के माध्यम से वाग्-विग्रहित होकर साहित्य की दुनिया में समादृत हुई हैं। समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में उनके आलेख प्रकाशित होते रहे हैं। इनके माध्यम से उनके चिन्तन धारा की अवान्तर अन्तर्दृष्टियों का विकास हुआ है। ऐसे उनके प्रकीर्ण लेखनों को एकत्रित, समाकलित कर प्रकाशित किया जाना अभी तक सम्भव नहीं हुआ है। देश के प्रतिष्ठित संगठनों एवं संस्थानों में स्थापित व्याख्यामालाओं में उन्होंने सुव्यवस्थित, सुगठित और शृंखलाबद्ध सुचिन्तित व्याख्यान देकर न केवल उन व्याख्यानमालाओं को पहचान दिया, बल्कि उसके माध्यम से अपने विचारों को लोकार्पित भी किया है। इनमें से अधिकांश का पुस्तकाकार रूप में प्रकाशन भी हुआ है, लेकिन प्राप्त जानकारी की अनुमत सीमा में कुछ एक का प्रकाशन अभी बाकी है।

ऐसे प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे के पथिकृत होने के वृतान्त पर दृष्टिपात करने से सहज ही विदित होता है कि उनका जीवन एक ज्ञान-यज्ञ के होता की तरह था। उस यज्ञ में स्वाध्याय रूपी अरणिमंथन से जिस ज्ञानाग्नि को उन्होंने प्रज्वलित किया, उसमें आजीवन आहुति देते रहे। वे स्वभाव से ही पूर्णकालिक अध्यवसायी थे। मानो पढ़ने-लिखने से थोड़ा समय घरेलू और सामाजिक जीवन के लिए चुरा लेने का उनका कौशल बड़ा ही अनुकरणीय था, जबकि शिक्षा-वृत्ति से जुड़े अधिकांश व्यक्ति घरेलू जीवन से कुछ समय पढ़ने-लिखने के लिए बामुश्किल ही निकाल पाते हैं। वस्तुतः जिज्ञासा-जागरण 'मनुर्भव' के पथ पर पथिक होने का प्रथम सोपान है। यह पथ खण्ड-खण्ड से अखण्ड के सन्धान, तल-तल से अतलान्त के अवगाहन की अन्तहीन यात्रा है। उनकी अन्तश्चेतना में निगूढ़ इसी विचार-बीज का पल्लवन उनकी सारस्वत साधना का पथिकृत वृतान्त है। इस विचार-बीज का अंकूरन उनके अन्तःकरण में लैस्की का निबन्ध 'आइडिया ऑफ यूनिवर्सिटी' पढ़ने से हुआ। मानो अपने अन्तर्निहित बोध का उन्हें संवादी स्वर मिला कि ज्ञान एक अखण्ड इकाई है, जिसमें आन्तरिक विभाजन महज कामचलाऊ और यहाँ तक कि कल्पित होते हैं। वास्तव में यही भारतीय परम्परा में भी ज्ञान का आदर्श है, जिसे गीता में 'अविभक्तं विभक्तेषु ज्ञानं तद्विद्धि सात्त्विकम्' कहते हुए स्वरित किया गया है। ज्ञान के स्वरूप के प्रति यह दृष्टि उनके लिए ध्रुव तारे की तरह मार्गदर्शक बन गई।

यही कारण था कि इतिहास, संस्कृति, साहित्य और दर्शन के अतिरिक्त गणितशास्त्र, सैद्धान्तिक भौतिकी और मनोविज्ञान जैसे विषयों की गहरी समझ भी उनके अध्यवसाय के अंगभूत हुए। इन विषयों पर भी उन्होंने समय-समय पर समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं, जो यत्र-तत्र प्रकाशित भी हैं।

II

इस देश को आजादी मिलने के वर्ष में ही प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में नियुक्त हुए थे। अगले दस वर्षों तक उन्होंने अध्ययन-अध्यापन और शोधपरक अध्यवसाय में बिताया, लेकिन आश्चर्यजनक रूप से कुछ भी प्रकाशित नहीं किया। उन दिनों उनके सक्रिय चिन्तन का विषय भारतीय इतिहास लेखन में सामाजिक इतिहास रहा। उन्हीं वर्षों में प्रो. विमल चन्द्र पाण्डे, प्रो. बी.एन.एस. यादव, प्रो. लल्लनजी गोपाल, प्रो. उदय नारायण राय जैसे मेधावी छात्रों ने उनके सान्निध्य में इस विषय पर कार्य किया, जो बाद में प्रसिद्ध सामाजिक इतिहासकार बने। ठीक दस वर्षों के बाद उनकी पहली पुस्तक 'स्टडीज इन ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म' 1957 में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक अपने प्रकाशन के साथ ही प्रबुद्ध अध्येतावर्ग में अत्यन्त सम्मान के साथ अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार्य हुआ। इसे ऐतिहासिक और तुलनात्मक धर्म-दर्शन की दृष्टि से लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है। इसमें बौद्ध सिद्धान्तों के विषय में परिवर्तित मान्यताओं की जाँच-पड़ताल बौद्धागमों के मूल स्वरूप के आलोक में की गई है। यह जाँच-पड़ताल वैसी अनेक प्रचलित मान्यताओं के विरोध में है जो कि बौद्ध दर्शन को नितान्त अनात्मवादी बताती हैं। बौद्ध दर्शन की मौलिकता को बताते हुए भी इस पुस्तक में उपनिषदों से उसका अन्तरंग सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। वैदिक और श्रमण परम्पराएँ, यद्यपि भिन्न-भिन्न दिखती हैं, किन्तु दोनों परम्पराओं के बीच वैचारिक साझेदारी की अनदेखी नहीं की जा सकती। अतः बौद्ध परम्परा के उद्गम को एकान्तिक रूप से श्रमण परम्परा में ही नहीं खोजा जाना चाहिए। प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण सम्बन्धी अवधारणाओं का विश्लेषण भी इस पुस्तक में मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद को कार्यकारणभाव से अलग कर तार्किक सापेक्षता और गणितीय प्रकार्यता से तुलनीय बताकर बौद्ध दर्शन के इस आधारभूत सिद्धान्त को एक नया ही आयाम प्रदान किया गया है।

बौद्ध विचारधारा में प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे की गहरी अभिरुचि और पैठ का दूसरा प्रमाण हमें 1962 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास' नामक ग्रन्थ में देखने को मिलता है। नाकामूरा ने अपनी प्रसिद्ध बिब्लियोग्राफी में इस पुस्तक पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि इतना सन्दर्भपुष्ट ग्रन्थ अन्यत्र दुर्लभ है। इस पुस्तक में बौद्ध दर्शन के विकास में जहाँ एक ओर विश्लेषण और द्वन्द्वात्मक तर्क की भूमिका देखी जा सकती है वहीं दूसरी ओर उसमें मूल आध्यात्मिक प्रेरणा को बार-बार प्रतिष्ठित करने की चेष्टा भी की गई है। बौद्ध दर्शन के प्रस्थानों का सम्प्रदायगत विकास यद्यपि एक-दूसरे का खण्डन करते हुए बुद्ध वचनों के अभिप्रायों की एकमात्र सही समझ की दावेदारी के साथ हुआ है, परन्तु यह अपने मूल से सदैव अनुप्राणित रहकर नैरात्म्यवादी आध्यात्मिक निष्ठा को उच्चतर प्रतिष्ठा ही प्रदान करने वाला प्रयास रहा है। बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में इनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति 'स्टडीज इन महायान' के नाम से केन्द्रीय उच्च तिब्बती संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित हुई है। इसमें उन्होंने महायान को मूल बुद्ध देशना की ही एक व्याख्या के रूप में देखा है। साथ ही साथ शून्यता की प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में व्याख्या के गुण-सूत्रों को उन्होंने बुद्ध देशना में ही मूलित बताया है। बहुतेरे आधुनिक व्याख्याकारों के द्वारा शून्यवाद की निरे अभाववादी व्याख्या का प्रत्याख्यान इस पुस्तक में शास्त्रीय सन्दर्भों और चकित कर देने वाली युक्तियों के साथ किया गया है। योगाचार विज्ञानवाद के सम्बन्ध में भी इस पुस्तक की स्थापनाएँ इस अर्थ में बहुत ही आधारभूत हैं कि बाह्यार्थ निषेध को वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक रूप में न समझकर उस पारमार्थिक रूप में समझना चाहिए, जिसमें एक अतिवैयक्तिक अद्वयविज्ञान ही ग्राह्य-ग्राहक भेद से विवर्तित होता है। उन्होंने धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु और रत्नकीर्ति के अपोहसिद्धि का व्याख्यात्मक हिन्दी अनुवाद करने का भी शास्त्रोपकारी कार्य किया है।

III

प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे इलाहाबाद छोड़कर 1957 में गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग के प्रथम प्रोफेसर होकर गए और 1962 में गोरखपुर से राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर टैगोर प्रोफेसर ऑफ कल्चर होकर आए। जयपुर जाना उनके अकादमिक जीवन के लिए अधिक फलोपधायी रहा। वहाँ उनका सम्पर्क

दयाकृष्ण, यशदेव शल्य आदि अनेक ऐसे दार्शनिकों से हुआ जो स्वतंत्र विचारों के थे। यह सम्पर्क उनकी मेधा के मौलिक पक्षों के विस्फार का निमित्त बना। जयपुर में ही दयाकृष्ण के निमंत्रण पर उन्होंने संस्कृति के स्वरूप पर छः व्याख्यान दिये, जो बाद में 'मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर' नाम से प्रकाशित हुई। वस्तुतः इसी पुस्तक के प्रकाशन के बाद उनकी पहचान एक संस्कृति दार्शनिक के रूप में हुई। इस पुस्तक की मौलिक स्थापना को रेखांकित करते हुए कहा जा सकता है कि संस्कृति आत्मचेतना की एक मूल्यान्वेषी वृत्ति है। मूल्य आत्मसत्य का अवभास है जो नाना उपाधियों के माध्यम से अनेकानेक भूमियों में व्यक्त होता है। महापुरुषों के प्रातिभदर्शन से मूल्योपलब्धी सांकेतिक रूप में परम्परा का अंग बनती है। चेतना मानव स्तर पर आत्मचेतना के रूप में उद्गृहीत होकर ऐतिहासिक बनती है। वास्तव में मानव चेतना ही ऐतिहासिक है और वही प्रतिक्षण अनुभव और क्रिया से बनती और बदलती है। यही सम्पूर्ण सांस्कृतिक विश्वइतिहास में पिरोया हुआ है। प्रोफेसर राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय ने इस ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए इसके प्रतिपाद्य को अभूतपूर्व ढंग से उद्घाटित किया है और उसमें निहित संस्कृति-दर्शन को हिन्दी में सामने लाया है। इसे मेरे द्वारा सम्पादित 'भारतीय दर्शन के 50 वर्ष' नामक ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

वास्तव में 'मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर' में प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे ने मानव-पर्येषणा की मूल्यान्वेषी अभीप्सा को जिस प्रकार से संस्कृति-मीमांसा के रूप में प्रस्तुत की है वह अपनी सम्पूर्णता के लिए एक स्वायत्त और स्वतंत्र 'मूल्यमीमांसा' की ओर संकेत करता है। इसी संकेतित विचार को पूरा करने के लिए उन्होंने यशदेव शल्य के आग्रह पर गहन विचार-विमर्श के उपरान्त 'मूल्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया जो 1973 में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशन से पूर्व यशदेव शल्य की दो कृतियाँ 'संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या' और 'विषय और आत्म' इसी के आस-पास प्रकाश में आ गई थीं। इन दोनों पुस्तकों का प्रभाव और वैचारिक सगोत्रीयता 'मूल्यमीमांसा' में भरपूर रूप से देखी जा सकती है। उन दिनों पश्चिम में 'वैल्यू फिलॉसफी' अथवा एक्सियोलॉजी का चिन्तन अपनी आरम्भिक दशा में विकसित हो रहा था। प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे ने इस पुस्तक के माध्यम से मूल्यविषयक प्रत्यक्षवादी, उपयोगितावादी और

आदर्शवादी पश्चिमी आधुनिक दृष्टियों का प्रत्याख्यान करते हुए मूल्य मीमांसा के भारतीय संस्करण की एक समुचित रूपरेखा प्रस्तुत की है। भारतीय दृष्टि से मूल्य विवेक—सम्मत अभीष्ट विषय हैं, जिन्हें पर्येषणीय अर्थ कहा जा सकता है। व्यावहारिक स्तर पर मूल्य उपयोगितात्मक होते हुए भी इच्छापूर्ति के ही किसी कल्पित और वस्तुतः असम्भव पैमाने से नहीं नापे जा सकते। आदर्श या पारमार्थिक मूल्य अनन्त साधना के लक्ष्य हैं। इसके विषय में औपनिषद् महावाक्य—‘आत्मकृतिर्वैशिल्पं’, ‘आत्मनस्तु कामायसर्वं प्रियं भवित’ और ‘भूमा वै सुखम्’ ही चरम सिद्धान्त प्रतीत होते हैं। अर्थमनर्थ भावय नित्यम्— में जिस विवेक की चर्चा है और जिसका उल्लेख कठोपनिषद् से प्रारम्भ कर भगवान् बुद्ध की पर्येषणा तक विशद रूप में मिलता है, उसी में वास्तविक भारतीय मूल्यमीमांसा अन्तर्निहित है। आधुनिक दृष्टि में मूल्य का या तो उपयोगिता के तत्त्व में विलयन किया गया है अथवा उसे आत्मनिरपेक्ष आदर्श तत्त्व कहा गया है। इन दोनों ही पक्षों में पारमार्थिक आत्मानुसंधान की कमी झलकती है। मूल्य को न तो अनित्य तृप्ति का विषय माना जा सकता है और न आत्मेतर विषय; भले ही वह विषय अतीन्द्रिय क्यों न हो। वास्तव में मूल्य के प्रत्यय में तीन घटकों का समावेश देखा जा सकता है — एषणा, विवेक और स्वतंत्रता। यह ठीक है कि एषणा और विवेक स्पष्ट ही सविषयक हैं और स्वतंत्रता कर्तृत्व धर्म होने के कारण कृति द्वारा विषय का आक्षेप करती है। किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया, तीनों ही चेतना के आयाम न केवल विषय का आक्षेप करते हैं बल्कि विषयी का और दोनों के मध्य सम्बन्ध का भी उतना ही आक्षेप करते हैं। मूल्यानुभूति में ज्ञान—निरूपित विषयता का प्रकार ही इष्टता का अवच्छेदक होता है और इस तरह इच्छा और ज्ञान, दोनों की विषयताएँ एक ही विषय में समान प्रकार से वृत्तित्व लाभ करती हैं। दूसरी ओर इच्छा और ज्ञान दोनों की ही विषयिताएँ एक ही स्वतंत्र विषयी में आश्रय पाती हैं और उसके कर्तृत्व को प्रेरित करती हैं। एक ओर है एषणात्मक और ज्ञानात्मक वृत्तियों की समन्वित विषयता और दूसरी ओर उसकी निरूपित स्वतंत्र विषयिता जो कि अपने को कर्तृत्व में व्यक्त करना चाहती है। ज्ञानावधृतरूपेण अर्थात् स्वरूपेण जो विषय इष्ट हो और स्वतंत्र विषयी के लिए साध्य हो वही मूल्य संज्ञा का अधिकारी होगा। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि मूल्य—प्रत्यय एक ऐसे विषय—विषयि—भाव का संकेत करता है जिसमें विषय अपने तात्त्विक

रूप में इष्ट, विषयी स्वतंत्र और दोनों का सम्बन्ध साध्य-साधक सम्बन्ध होता है। इच्छा और ज्ञान के सामरस्य के अनुरूप साधना यथास्थिति विषय को आदर्श के मान से सुधारती है और आदर्श को यथार्थ रूप में गढ़ती है। चेतना का मूल रूप ही स्वातन्त्र्य है और अपने स्वभाव से विच्युतवत् 'स्वाधिकारात्प्रमत्ता' वह सीमित विषयों में बन्धन और अभाव का अनुभव करती है और उसकी पूर्ति के लिए एक 'पूर्ण, पर्याप्त और परायण' पद को खोजती है। मानों एक अन्तेर्निहित अव्यक्त स्मृति से उपस्थित विषयों में अनुपस्थितमान का संकेत पाकर वह अंधेरी गुफा से सूर्य की ओर मुड़ती और उठती है। मूल्यज्ञान, मूल्यान्वेषण और मूल्यसाधन मानव चेतना का स्वभाव है। आत्मानुरूप विषय को खोजती हुई चेतना की यात्रा अपने स्वरूप की ओर ही उद्दिष्ट है, क्योंकि आत्मबोध ही पूर्णतया समंजस और प्रांजल बोध है, और पदार्थ धारणा के सब प्रकारों में उच्चतम है। सभी मूल्य चेतना की इस अपने से अपने तक, अव्यक्त भाव से प्रबुद्ध और मुक्त भाव तक की यात्रा के पड़ाव हैं और स्वानुभूति की नाना उपाधियाँ या संकेत-मात्र हैं। इस पुस्तक का पर्यवसान एक 'प्रत्ययमीमांसा' के सूत्रपात में हुआ है, क्योंकि प्रतीयमानों (वस्तु, अर्थ और मूल्य) का सारभूत एकत्व सम्प्रत्ययात्मक ही होता है। आत्मसत्ता के अवधारक और उसकी स्वतंत्रता के प्रकाशक प्रत्यय ही मूल्य के अवधारण होते हैं। अतः एक ओर जहाँ मूल्य आत्मापेक्षी है वहीं दूसरी ओर व्यावहारिक आत्मा मूल्यापेक्षी है।

IV

मुझे इस बात का भान है कि जयपुर उन दिनों हीरे-जवाहरात और नगीने बनाने-तरासने का ही शहर नहीं था, अपितु दयाकृष्ण, यशदेव शल्य और वैसे ही अन्यो की उपस्थिति के कारण विचारों के तरासने का भी केन्द्र रहा। प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे अपने मित्र प्रो. गोवर्धन राय शर्मा के आग्रह पर 1978 में जयपुर छोड़कर पुनः इलाहाबाद लौट आए। जयपुर छोड़ने के बाद इनकी पहली कृति 'भारतीय परम्परा के मूल स्वर' प्रकाश में आई, जो वास्तव में अज्ञेय जी के निमंत्रण पर 1981-82 में वत्सल-निधि व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिये गए व्याख्यान हैं। इसी पुस्तक पर उन्हें बिड़ला फाउण्डेशन का प्रथम शंकर सम्मान भी दिया गया था। इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति के अधिष्ठान और उसके ऐतिहासिक विस्तार में एकात्मता का ऐसा निरूपण किया गया है जो भारत की सांस्कृतिक परम्परा

की आधुनिक समझ रखने वालों को पुनर्विचार करने के लिए विवश करता है। साथ ही साथ, साधारण जिज्ञासुओं के लिए एक ऐसे संसार के द्वारा खोल देता है, जिसमें वे प्रवेश तो करना चाहते हैं लेकिन साहस नहीं कर पाते कि कहीं खो न जाएँ। किसी विचारक की अन्यान्य कृतियों में विरले ही कोई ऐसी कृति होती है जिसमें वह जो कुछ कहने का उपक्रम जीवन भर साधता रहा हो, उसे सहज और सुबोध विन्यास में सम्प्रेषित कर दे। यह पुस्तक ऐसी ही है, जो बिना किसी लाग-लपेट के यह समझा पाती है कि भारतीय परम्परा का मूल स्वर सनातनता और ऐतिहासिकता की युगलबंदी में नैतिक आदर्शों और सामाजिक यथार्थों की बहुविध धाराओं में विभक्त 'आत्मानं विद्धि' की मौलिक पर्येषणा से अनुशासित और अनुप्राणित रहा है। अनेकानेक आगन्तुक कर्दम-कलुषों के साथ नाना ऋजु-कुटिल मार्गों से गुजरते हुए यह अनुभूति और अभिव्यक्ति के धरातल पर 'रसो वै सः' की परम्परा है। संस्कृति और सभ्यता के भेद को न समझ पाने वाली दृष्टि ही भारतीय संस्कृति के सामासिक होने की दुहाई देती है, जबकि ऐसा करते हुए इस बात को भुला दिया जाता है कि सामासिकता वास्तव में सभ्यता के क्षेत्र में ही लागू होती है। सभ्यताएँ सामासिक होती हैं, जैसे कि सभी जातियाँ विमिश्रित होती हैं। सामाजिक इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा का सम्बन्ध अनेकायामिक हुआ करता है। सामाजिक इतिहास में बहुत कुछ आगन्तुक और तात्कालिक होता है, जिसमें घटित और विघटित होने से संस्कृति में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं आता। अतः भारतीय संस्कृति के सामाजिक इतिहास में यदि विकृतियाँ उत्पन्न भी हुई हैं तो उनका समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता, परन्तु उन्हें इस संस्कृति का स्वरूपगत लक्षण नहीं, अपितु अभिव्यक्ति पक्ष में उत्पन्न विकार ही माना जाना चाहिए। भारतीय परम्परा के सामाजिक इतिहास में विकृतियों के प्रक्षालन की अद्यतन विद्यमान सांस्कृतिक चेतना इसी को प्रमाणित करती है। अतः भारतीय संस्कृति सनातन की ऐतिहासिक परम्परा है। इसे आत्म-संस्कृति अथवा परावृत्ति का मार्ग भी कहा जा सकता है। यह लोक-व्यवस्था और जन-समुदाचार के उतार-चढ़ाओं का इतिहास मात्र न होकर मूलतः 'स्वरूप सिद्धि' की साधना की प्रतिविशिष्ट ऐतिहासिक परम्परा है।

प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे 1984 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में तत्कालीन कुलपति प्रो.

इकबाल नारायण के निमंत्रण पर विजिटिंग प्रोफेसर हुए। उन्हीं दिनों उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर' दो जिल्दों में प्रकाशित हुई। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने उसका विमोचन किया और उन्हीं के आवास पर इस पुस्तक पर एक गोष्ठी भी आयोजित की गई। इस रचना के प्रेरणा स्रोत श्री अरविन्द, गोपीनाथ कविराज और आनन्द कुमार स्वामी को माना जा सकता है, जिनका प्रभाव प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे पर पहले से ही दिखाई पड़ता है। इस ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति को मात्र भौगोलिक और जातीय घटकों के आधार पर ऐतिहासिक संयोग से उत्पन्न सामग्री के रूप में नहीं लिया गया है बल्कि उसे सनातन सत्य की खोज की परम्परा के रूप में माना गया है। इस प्रकार संस्कृति इतिहास में अपूर्ण रूप से अभिव्यक्त सनातनविद्या से अभिन्न है। सनातनविद्या अखण्ड और अनन्त होते हुए भी अपनी व्यंजक ऐतिहासिक परम्परा के कारण नाना विभक्त रूपों में मिलती है। इसके अतिरिक्त सनातन और तात्कालिक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक गवेषणाओं के सम्मिश्रण के कारण संस्कृति में भी नाना स्तरीय सम्मिश्रण मिलता है। संस्कृति के मौलिक तत्त्व और स्थायी संरचना को उसकी ऐतिहासिक विकृतियों से अलग रखना आवश्यक है। संस्कृति का तात्त्विकबोध उसके ऐतिहासिक ज्ञान से असम्पृक्त न होते हुए भी उससे अभिन्न नहीं है। इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक ताने-बाने और उसके ऐतिहासिक ढाँचे के पीछे सनातन तत्त्वों को देखने का प्रयास है। इस अर्थ में यह पुस्तक वस्तुतः भारतीय संस्कृति में अन्तर्निहित एक शाश्वतदर्शन की खोज है। आध्यात्मिक साधना या योग ही संस्कृति की मौलिक जन्मभूमि है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में उन्होंने जो व्याख्यान दिये और जिसका प्रकाशन 'आस्पेक्ट्स ऑफ इण्डियन कल्चर' शीर्षक से हुआ; वह इसी की आगे की कड़ी है।

V

प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे को 1988 के दशक में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में पं. बदरीनाथ शुक्ल स्मृति व्याख्यान, प्रो. सुब्रह्मण्यम अय्यर स्मृति व्याख्यान और ग्रिफिथ मेमोरियल लेक्चर्स देने का अवसर मिला। यह तीनों उनके द्वारा दिये गए ऐतिहासिक व्याख्यान हैं। मैं स्वयं भी कुछ एक का साक्षी रहा हूँ। इनका प्रकाशन क्रमशः 'भक्ति दर्शन विमर्शः', 'सौन्दर्य दर्शन विमर्शः' और 'एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति' शीर्षक से

हुआ है। पं. जगन्नाथ पाठक ने इनका हिन्दी अनुवाद कर बड़ा ही उपकार किया है। इन तीनों ही पुस्तकों में उन्होंने तत्तद विषयों के नव्य-प्रस्थान वैश्विक-विचार-संस्थान के परिप्रेक्ष्य में रचे हैं। विचारों की मौलिकता, प्रतिपादन की शैलिकृत विशेषता और उसके फलक का ऐसा विस्तार उनके पूर्व की रचनाओं में कम ही देखने को मिलता है। यों तो 'भक्ति दर्शन विमर्शः' में मुख्य रूप से दर्शन का स्वरूप और उसका आगम से सम्बन्ध, 'सत्यं परम धीमही' के रूप में तुलनात्मक ईश्वरमीमांसा, भक्ति की रसरूपता और धर्मपुरुषार्थ में भक्ति के अन्तर्भाव का प्रतिपादन किया गया है, लेकिन इन सब से ऊपर भक्ति को मानव पर्येषणा के एक स्वतंत्र आयाम के रूप में पहचान कर विश्व के सभी धार्मिक परम्पराओं में इसकी अनुस्यूति को देखते हुए भक्ति को एक विश्वजनीन प्रवृत्ति के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की गई है। मानव चेतना में निहित 'ट्रांसडेंशिया' ही इसका मूल है जो प्रतिविशिष्ट रूप में सभी धार्मिक परम्पराओं और संस्कृतियों में अभिव्यक्त होती है। ऐसे ही 'सौन्दर्य दर्शन विमर्शः' में मुख्य रूप से भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की संकल्पना, रूप और रस की विभिन्न युगों में अवधारणाएँ, रस की संविदविश्रान्ति रूपता, भावों की समाज सापेक्षता और सौन्दर्य का कला के अन्य आयामों एवं प्रारूपों में सम्मेलन इत्यादि पर प्रतिपादनात्मक शैली में विचार किया गया है। परन्तु, 'त्रिपर्वा ज्ञान पद्धति' के रूप में सौन्दर्यशास्त्र की प्रतिष्ठा और उसके इस स्वरूप को सन्दर्भ बनाकर तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र की उपस्थापना इस पुस्तक की सर्वाधिक मौलिक स्थापनाएँ हैं। यहाँ मैं अपनी समझ की अनुमत सीमा में इस बात का संकेत करना अनुचित नहीं समझता कि प्रो. के. सी. भट्टाचार्य ने चेतना के तीन मौलिक और अनन्तर्भाव्य अभिवृत्तियों (नोविंग, विलिंग, फिलिंग) में सौन्दर्यवृत्ति का मूल चेतना की फिलिंग अभिवृत्ति में देखा है, लेकिन प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे चेतना में विकल्पन-अभिवृत्ति (बौद्ध पदावली में कल्पना) को सौन्दर्यवृत्ति का मूल मानते हुए प्रतीत होते हैं। ध्यातव्य है कि विकल्पन-अभिवृत्ति चेतना की फिलिंग नहीं अपितु विलिंग अभिवृत्ति है। 'एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति' में मनुष्य की धार्मिक अभीप्साओं और प्रवृत्तियों के बहुविध रूप-विरूपों को पहचानने का प्रयास किया गया है। इस तरह यह तुलनात्मक धर्म-दर्शन पर लिखा गया एक मौलिक प्रबन्ध है। इतना जरूर है कि जहाँ पश्चिमी विद्वानों ने ईसाई धर्म को केन्द्र में रखकर तुलनात्मक धर्म-दर्शन को विकसित किया

है, वहीं इस ग्रन्थ में उसे भारतीय आध्यात्मिकता के आधार पर उसका मूल्यांकन और निरूपण किया गया है। मृत्युमीमांसा इस ग्रन्थ का एक अन्य मौलिक पक्ष है, क्योंकि मृत्यु भय ही आध्यात्मिक प्रवृत्ति या परमार्थ पर्येषणा का निमित्त है जो अमरत्व की अभीप्सा के विविध आयामों में प्रकट होती है।

प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे 1990 के ही दशक में अन्त तक कतिपय और भी व्याख्यान दिये जो पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुए हैं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी (1993) में जो व्याख्यान हुआ वह 'साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति' नाम से, गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान (1991) में दिये गए व्याख्यानों का प्रकाशन 'भारतीय समाज : तात्त्विक और ऐतिहासिक विवेचन' नाम से और शंकराचार्य जयंती महोत्सव (1988-89) के अवसर पर दिये गए व्याख्यानों का प्रकाशन 'शंकराचार्य : विचार और सन्दर्भ' शीर्षक से हुआ। इसी विषय पर उनकी दूसरी पुस्तक 'लाइफ एण्ड थॉट ऑफ शंकराचार्य' नाम से प्रकाशित हुई है। इन दोनों पुस्तकों में शंकर की जीवनी पर उपलब्ध लगभग 40 प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन के पश्चात् नवीनतम शोधों के प्रकाश में विश्वकोशीय सूचनाओं के साथ शंकराचार्य की जीवनगाथा और उनके विचारों की पृष्ठभूमि तथा विकास को उद्घाटित किया गया है। 1993 में उन्हें देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय के निर्देशन में कार्यान्वित भारतीय विज्ञान, दर्शन और संस्कृति के इतिहास की राष्ट्रीय परियोजना में सम्पादक के रूप में सम्मिलित किया गया। इसके अन्तर्गत उन्होंने 'डॉन ऑफ इण्डियन सिविलायजेशन', 'लाइफ, थॉट एण्ड कल्चर इन इण्डिया', 'इण्डिया एण्ड साउथ-ईस्ट एशिया और 'गोल्डेन चेन ऑफ सिविलायजेशन : इण्डिक, ईरानिक, सिमेन्टिक एण्ड हेलेनिक जैसे महाकाय ग्रन्थों का सम्पादन किया है, जो सभ्यता-अध्ययन के क्षेत्र में मील के पत्थर हैं। उनकी एक पुस्तक 2001 में 'वैदिक संस्कृति' नाम से प्रकाशित हुई, जो उनके दीर्घकालिक वैदिक अनुशीलन का प्रतिफल है। यद्यपि इस पुस्तक का प्रतिदर्श सम्भवतः श्री अरविन्द का 'वैदिक मिस्टीसिज्म' और अनिर्वाण की 'वेदमीमांसा' रही होगी, लेकिन उस कसौटी पर यह पूरा हुआ नहीं कहा जा सकता। इस दौरान उन्होंने कुछ और भी महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये थे। सम्भवतः पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में श्री अरविन्द पीठ के तत्त्वावधान में दिये गए पाँच व्याख्यान अप्रकाशित ही हैं। प्रो. सुष्मिता पाण्डे जो उनकी सारस्वत साधना की उत्तराधिकारिणी हैं, ऐसे उन सब अप्रकाशित पाण्डुलिपियों को संयोजित कर प्रकाशित करने का उपक्रम कर रही हैं।

VI

प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे की सम्भवतः अन्तिम कृति 'दर्शन विमर्श' है। भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नयी दिल्ली के नेशनल लेक्चरर (2002) के रूप में सारनाथ में दिये गए व्याख्यानों से इसकी रूप-रेखा बनी थी। इसकी पाण्डुलिपि मुझे 2005 के आस-पास प्राप्त हुई, जिसे यशदेव शल्य के निर्देशन में सम्पादित कर उन्मीलन पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित किया गया था। शल्य जी इसे अपनी प्रस्तावना के साथ प्रकाशित देखना चाहते थे। दोनों के बीच की मैत्री कैसी थी, उसके विषय में मेरे लिए कुछ कहना उसे हल्का कर देगा, क्योंकि मैंने तो उसका अनुभव किया है। मानो 'मैत्री' शब्द की सर्वोत्तम अर्थवत्ता चरितार्थ हुई हो। इस पुस्तक के प्रकाशन से यशदेव शल्य की अधुरी इच्छा पूरी हुयी है और प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे के ऋण से मैं उऋण हो पा सका हूँ। अच्छी बात यह है कि इसका प्रकाशन भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् से हुआ है, क्योंकि आखिरकार परिषद् के नेशनल लेक्चरर योजना के तहत ही इसका जन्म हुआ था। परिषद् के सदस्य सचिव, मित्रवर प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र, जो स्वयं ही आन्वीक्षिकी विद्या के निष्णात् अध्यवसायी हैं, भूरिशः साधुवाद के पात्र हैं।

इस पुस्तक के सात अध्यायों में प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे ने दर्शन के स्वरूप विषयक स्वाभिमत का इस तरह से व्यवस्थित प्रतिपादन किया है जहाँ पूरब और पश्चिम की विभाजन रेखा ही समाप्त हो जाती है और उसका एक सार्वभौम स्वरूप उद्घाटित होता है। इस सम्पूर्ण विवेचना का केन्द्रबिन्दु मानव-सत्ता के उस स्वरूप का विमर्श है जिसके चलते प्राकृत-सत्ता और उसके प्रकारों में उसे अपचित नहीं किया जा सकता। मानव-सत्ता की ज्ञानलक्षी अस्मिता में ही मूल्यान्वेषी आत्मन् की प्रतिष्ठा है। प्राणिमात्र अपने अस्तित्व के प्रति अभिनिवेश रखता है और 'मा न भूवम्, भूयासम्' इस अन्तर्निहित प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपनी परिस्थिति के साथ आनुकूल्य-सम्पादन की चेष्टा में निरत रहता है। मनुष्य में अपने भौतिक पर्यावरण के साथ जूझने की एक अपूर्व क्षमता है जो कि उसे इन्द्रियों और मस्तिष्क के विकास से उपलब्ध होती है। किन्तु यहाँ एक ओर उसमें अपने प्राकृतिक अस्तित्व का बोध है, वहीं दूसरी ओर उसमें मृत्यु का स्फुट बोध है और उसके साथ है एक अप्राकृत अस्तित्व का अस्फुट भान और अमृतत्व की अभीप्सा। प्राचीनतम मानव के अवशेष भी उसकी चेतना के इस द्वैत को

प्रकट करते हैं। एक ओर हम उसे हथियार—औजार की खोज में अग्रसर पाते हैं, दूसरी ओर मृतक संस्कार और अदृष्ट शक्तियों की उपासना में निरत। असम्य हो अथवा सम्य, प्राचीन अथवा अर्वाचीन, मनुष्य मात्र की चेतना में ये दो परस्पर विभक्त आयाम लक्षित होते हैं। मनुष्य अपने को प्रकृति के राज्य में पाता है किन्तु खोजता है स्वाराज्य। यह सच है कि विभिन्न संस्कृतियों और युगों में इस द्वैत की अभिव्यक्ति समान रूप से नहीं हुई है, किन्तु तब भी किसी न किसी रूप में लौकिक और आध्यात्मिक बोध का छायातप सर्वत्र उपलब्ध होता है। चेतना के विकास में लौकिक और आधिभौतिक स्तर उसकी निचली प्रान्तरेखा है और विशुद्ध आत्मबोध उसका लक्ष्य। जहाँ एक ओर प्रत्यक्ष जगत् और प्राकृतिक कार्यकारण सम्बन्धों का ज्ञान लौकिक व्यवहार में समर्थ सिद्ध होता है वहीं इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य को आन्तरिक तृप्ति नहीं होती। ज्ञान के एक सहज पर अव्यक्त आदर्श की प्रेरणा उसे अपनी लौकिक चेतना को जाँचने और आँकने को बाध्य करती है। इस प्रेरणा का पूर्वार्ध विचारात्मक है, उत्तरार्ध अतिक्रमात्मक। पूर्वार्धगत प्रतीयमान और व्यावहारिक सत् का विवेचन ही दार्शनिक अनुसन्धान है जो लौकिक अनुभव और आध्यात्मिक साक्षात्कार के स्तरों के बीच का चिरन्तन सेतु है। दार्शनिक अनुसन्धान प्रतीतिमात्र अथवा व्यवहार से उपलब्ध अर्थ के विषय में तात्त्विक संशय और जिज्ञासा होने पर लक्षण और प्रमाण के द्वारा उसकी परीक्षा के रूप में प्रवृत्त होता है और विप्रतिपन्न विषय के पारमार्थिक स्वरूप के निर्णय की ओर प्रयत्न करता है। प्रतीयमान अर्थों की दार्शनिक व्याख्या उनके विवेचन से उपलब्ध एक तात्त्विक विश्व के सन्दर्भ में होती है। दार्शनिक जिज्ञासा ऐसे सत्य की ओर उद्दिष्ट है जो सर्वाधिक व्यापक और गम्भीर है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे के लिए दर्शन की प्रस्थिति और भूमिका ज्ञान की अन्य विधाओं की तरह कोई एक नितान्त विषयमूलक—व्यवस्था नहीं, अपितु विषयसम्पृक्त ज्ञान का अतिक्रमण करता हुआ आत्मोन्मुख व्यापार है। विषयसम्पृक्त ज्ञान की अन्वीक्षा में रूपायित पदार्थविद्या से उत्तीर्ण होकर आध्यात्मिक विद्या में उच्चतर प्रतिष्ठा—लाभ दार्शनिक चेतना का विश्रान्ति—स्थल है। मानवीय पर्येषणाओं के समस्त आयामों की सम्यक् व्याख्या में ही आत्मसत्ता की स्वीकार्यता पूर्वगृहीत है। इसकी अन्तरानुशासिक सहभागिता विश्वदृष्टि के

सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों का उद्घाटन है, जो विभिन्न विद्यास्थानों के प्रतिविशिष्ट आदेशों, परामर्शों, निर्धारणों, व्यवहार के विधि-निषेध परक नियमों, आदर्शों एवं मूल्यों को प्रामाणिकता के साथ-साथ औचित्य प्रदान करता है।

इस प्रकार प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे के पथिकृत वृत्तान्त का उपसंहार करते हुए कहा जा सकता है कि वे वैदिक वाङ्मय के अनुशीलनकर्ता, बौद्धविद्या के निष्णात् पण्डित, भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान्, दुर्लभ कवित्वशक्ति सम्पन्न कवि और सभ्यताओं के उत्थान-पतन की गहरी समझ रखने वाले सांस्कृतिक इतिहासकार हैं। परन्तु यह सब उनके विद्यार्जन और विद्वता-लाभ के परिक्षेत्र ही कहे जा सकते हैं। सच्चे अर्थों में प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे की अन्यव्यावृत्त मौलिकता इस बात में निहित है कि वे मानव-पर्येषणा के सांभ्यतिक-सांस्कृतिक रूपायन और मूल्योपलब्धि के बहुविध आयामों की चेतनामूलक व्याख्या और उसके अन्तःसूत्रों की ज्ञानमीमांसा प्रस्तुत करने वाले संवृतिशास्त्री हैं। उन्होंने अपनी एक पुस्तक का शीर्षक भी 'कॉन्शसनेस वैल्यू कल्चर' (2006) रखा है। इस शीर्षक की पदावली में निहित अवधारणा और अभिगम से भी समस्त मानवपर्येषणा और श्रेयोपलब्धि का चैतसिक होना ही सूचित होता है। उनकी रचनाओं में 'मानव पर्येषणा का संवृतिशास्त्र' विशेष रूप से 'मिनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर', 'मूल्यमीमांसा', 'भारतीय परम्परा के मूल स्वर', 'भक्ति दर्शन विमर्शः', 'सौन्दर्य दर्शन विमर्शः', 'एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति' और प्रस्तुत 'दर्शन विमर्श' के माध्यम से विशेषरूप में आकारित हुआ है। आने वाली पीढ़ी इस ज्ञान-सम्पदा का सदुपयोग भारतीय ज्ञानपरम्परा की वैश्विक प्रतिष्ठा के निमित्त करे, इसी में इसकी सार्थकता और प्रोफेसर गोविन्द चन्द्र पाण्डे की उत्तरजीविता है।

दर्शनशास्त्र विभाग

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (म.प्र.)

सत्ता की समझ

जी. आर. मलकानी प्रणीत 'अ स्टडी ऑफ रियलिटी'
का अविकल हिन्दी रूपान्तरण

अनुवादक : अनिल कुमार तिवारी

अध्याय 9 : पूर्णता के एक सिद्धान्त के रूप में सत्
पिछले अध्यायों में हमने यह दिखाने का प्रयास किया कि सत् अपरिवर्तनशील, स्थायी और नित्य ही होना चाहिए। लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं। अविनाशिता के नियम से पदार्थ के एक भाग को वास्तव में स्थायी माना जा सकता है। क्या इसलिए यह सत् है? इस प्रश्न का समाधान स्पष्ट रूप से उसकी (पदार्थ की) आंतरिक संरचना पर विचार करने पर मिल सकता है, न कि इसके स्थायी स्वरूप पर।

पदार्थ का एक भाग हमारे लिए कुछ है और कुछ होने के नाते हम यह नहीं मान सकते कि यह कभी अस्तित्व से पूरी तरह बाहर हो जाएगा (अर्थात् इसका होना रुक जाएगा)। लेकिन पदार्थ के एक छोटे भाग की आंतरिक संरचना क्या है? स्पष्टतः, यह जो भी हो सावयव ही होगा; और इन अवयवों के भी अवयव होंगे। इस तरह पदार्थ के एक छोटे भाग की वास्तविकता उनके अवयवों की वास्तविकता पर निर्भर होगी। और चूंकि इन हिस्सों के और भी छोटे हिस्से होते हैं, सत्ता के घटकों को तय करने के लिए हमें विभाजन की एक अंतहीन प्रक्रिया को अपनाना होगा। पदार्थ के एक टुकड़े की वास्तविकता उसकी अपनी विशिष्टता में न होकर उसके अवयवों में होती है; और यदि हम वास्तव में अंतिम अविभाज्य अंश नहीं प्राप्त कर सकते, तो हम सत्ता के उन अवयवों को प्राप्त करते हैं जो स्वयं में सावयव हैं। यह स्पष्ट है कि हम पदार्थ के आत्यंतिक अंश (अंतिम अवयव) को उस रूप में नहीं पा सकते जिस रूप में पदार्थ को पाते हैं क्योंकि जो भौतिक तत्त्व है वह अनंत रूप से विभाज्य है; हम विभाजन के उस छोर तक कभी नहीं पहुँच सकते जिसके आगे विभाजन असंभव हो और जिसे भौतिक पदार्थ का सार कहा जा सके।

उन्मीलन - वर्ष 39, अंक 1, जनवरी-जून 2025

ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि हम गोल-मोल बातें कर रहे हैं। अवयवों को तभी वास्तविक कहा जा सकता है जब समग्र वस्तु (अवयवी) वास्तविक हो। हमें वस्तु की समग्रता से शुरुआत करनी चाहिए। और ऐसा इसलिए कि उसके अवयवों में वास्तविकता की प्राप्ति उसके स्वयं के वास्तविक होने पर निर्भर होती है। पदार्थ का एक अंश वास्तविक है क्योंकि यह एक प्रकार का समग्र है। निस्संदेह यह (अंश) भी सावयव है। लेकिन अंश इसलिए वास्तविक हैं क्योंकि अवयवी वास्तविक है न कि इसका उलटा।

हाँ यह बात सच है कि सामान्य अनुभव में हमें एक प्रकार के अवयवी से ही शुरु करना होता है। लेकिन यह महज सुविधा के लिए है। जिस अवयवी/समग्र से हम शुरुआत करते हैं वह आसानी से अनुभव में उपलब्ध है। वे तार्किक अवयवी (ऐसा समग्र जो किसी का अंश हो ही न) नहीं हैं। वास्तव में हम उस चीज को सुविधापूर्वक अवयवी मान लेते हैं जिससे एक वस्तु के रूप में व्यवहार किया जा सके। हालांकि जब हम उस पर एक तत्त्वमीमांसीय प्रश्न उठाते हैं, तो हमें अनिवार्य रूप से उसकी आंतरिक संरचना को टटोलना होता है; दूसरे शब्दों में कहें तो हमें इस प्रश्न का उत्तर देना होता है कि अवयवी अपने अवयवों से कैसे संबन्धित है? अब हम सामान्यतया स्वीकृत कुछ अवयवी की तरफ बढ़ेंगे जिससे यह दिखाया जा सके कि कैसे वे हमारी तार्किक-अवयवी की अवधारणा को संतुष्ट नहीं कर पाते।

सबसे पहले कुछ विशिष्ट वस्तुओं के एक समूह पर विचार करते हैं जिसे एक भौतिक या यांत्रिक संरचना के रूप में स्पष्टतः पहचाना जा सकता है। यह केवल कहने भर को एक है। वास्तव में यह अवयवों का एक समाहार (समूह) है; और यह अवयवी इसलिए वास्तविक नहीं है कि वह एक समूह है बल्कि इसलिए वास्तविक है कि वह व्यक्ति (इकाई) है। व्यक्ति का ही अस्तित्व है; और व्यक्तियों से भिन्न समूह का कोई अस्तित्व नहीं है। अवयवी कोई पदार्थ नहीं है; यह केवल एक नाम है, अधिक से अधिक एक समूह-नाम।

व्यक्तिगत सदस्यों (इकाइयों) के बीच किसी प्रकार का विशेष संगठन अवयवी को स्पष्टतः एक नया दर्जा देगा। ऐसे अवयवी के उपयुक्त

दृष्टांत एक जैविक संगठन या संगीत में सुरों का तारतम्य हो सकता है। इनमें से किसी को भी मात्र इनके अवयवों के रूप में नहीं समझा जा सकता है। इनमें (अवयवों के समूह मात्र से) कुछ अतिरिक्त है। वे अवयवों को एकता के सूत्र में पिरोते हैं यह ऐसी क्षमता है जो अवयवों में कभी नहीं हो सकती। इस अवयवी को एक नई चीज कहा जा सकता है और इसे अवयवों से अधिक वास्तविक कहा जा सकता है।

दार्शनिकों ने इसे सच्चे अवयवी के रूप में सुझाया है। परंतु यह देखना कठिन नहीं है कि ऐसा अवयवी स्वयं-निर्मित नहीं है, और इसलिए यह अवास्तविक है; और इसे इसके अवयवों की तरह अस्तित्ववान नहीं कहा जा सकता। पहले हम संगीत का तारतम्य/सामंजस्य लेते हैं। यहाँ यह देखना आसान है कि संगीत की धुन की समरसता सुरों के मध्य एक निश्चित संबंध के कारण होती है; इसके पीछे एक विशेष रूप से प्रशिक्षित कुशल मस्तिष्क होता है। न तो केवल सुर और न ही उनका आरोह-अवरोह धुन की सुंदरता बनाता है। बल्कि इनके द्वारा कानों पर डाला गया प्रभाव ही धुन की सुंदरता प्रकट करता है। इसलिए ऐसी धुन जिसे किसी कान ने सुना न हो, वह धुन के रूप में विद्यमान नहीं हो सकती। यह वस्तुनिष्ठ नहीं है और इसलिए उस अर्थ में वास्तविक नहीं है जिसमें एक सुधी मन अलग-अलग सुरों को वस्तुनिष्ठ और वास्तविक रूप में देखता है।

क्या एक जीवित इकाई एक उपयुक्त प्रकार की संगठित अवयवी हो सकती है? क्या हम यह कह सकते हैं कि यह अवयवों की सुगठित (स्वयं में व्यवस्थित) एकता है? यह इस रूप में इकाई हो सकती है। लेकिन यह (एकता) क्या है? पत्थरों के ढेर में भी एक प्रकार की एकता होती है; और इसके किसी भाग में कोई परिवर्तन या किसी भाग का हटाना उस मात्रा में पूरे ढेर को प्रभावित करेगा। एक भौतिक संगठन में भी ऐसी ही एकता होती है। जैविक इकाई के उत्पन्न होने या नष्ट होने में ऐसा कुछ भी खास नहीं है जो पत्थरों के ढेर या किसी भौतिक निकाय के संगठन के बारे में सच न हो। जैविक इकाई का भौतिक इकाई के संगठन से भेद तभी होता है जब इसका संबंध किसी कर्ता से जोड़कर देखा जाय। तब इसकी एकता मात्र भौतिक एकता नहीं रह जाती। यह प्रयोजन की एकता बन जाती है, जो कि व्यक्तिनिष्ठ है, यह अवयवों की देशगत एकता नहीं है। इसे स्वयं में अस्तित्ववान नहीं कहा जा सकता।

यहाँ हम अवयवी की अपनी अवधारणा में विरोधाभास देख सकते हैं। हमने कहा की अवयवी का निर्माण अवयवों से हुआ। परंतु तब इसका अवयवों से दो प्रकार का संबंध हो सकता है, अस्तित्वगत या अनस्तित्वगत। जानवरों का समूह व्यक्तिगत जानवरों से अस्तित्वगत ढंग से जुड़ा है क्योंकि जानवरों की वास्तविकता और समूह की वास्तविकता एक ही है। हम व्यक्तियों से भिन्न समूह की वास्तविकता नहीं देखते। यहाँ अंततः इस प्रश्न कि क्या वास्तविक है? का उत्तर सदस्यों की ओर या उसके अवयवों की ओर संकेत द्वारा ही दिया जा सकता है। परंतु यदि अवयवी अपने अवयवों से इस रूप में संबन्धित नहीं है तो यह अवयवों से केवल अनस्तित्वात्मक ढंग से ही जोड़ा जा सकता है। इस तरह के संबंध के भी दो प्रकार होते हैं। (पहला) हम अवयवों को वास्तविक मान सकते हैं और अवयवी जो कि अवयवों से भिन्न है का अस्तित्व अवयवों की अपेक्षा कदाचित् अवास्तविक होता है। यहाँ किसी वस्तु की वास्तविकता उसके अवयवों में होती है न कि उसकी समग्रता में, और हमें व्यक्तिगत अवयवों को ही वास्तविक रूप में देखना होगा। (इसके विपरीत) हालांकि ऐसा भी हो सकता है कि अवयवों की अपेक्षा अवयवी ही वास्तविक हो और इसमें सभी अवयव अवास्तविक हों। परंतु ऐसा अवयवी निरवयव होगा। यह साधारण अर्थ में अवयवी होगा ही नहीं। अवयव के किसी भी (अल्पतम/महत्तम) परिमाण की कल्पना की जाय यह (अवयवी) अविभाज्य ही होगा। हम इसे सत्ता के अविभाज्य इकाई, जिसे हमने अवयव कहा, से कैसे पृथक् कर सकते हैं।

यह धारणा हमें अधिक दूर नहीं ले जा सकती कि अवयवी के वास्तविक होने के कारण अवयव वास्तविक हैं। सत् वह है जो अविभाज्य है। और जो अविभाज्य है वह सामान्य अर्थ में न तो अवयव है न ही अवयवी। वस्तुतः अवयवी की मांग और अधिक अवयवों की मांग नहीं है। यह उस सिद्धान्त की चाहना है कि सत् स्वयं में पूर्ण होना चाहिए। उपनिषदों में इसीलिए सर्वोच्च सत्ता को अणु से अणुतर और महत् से महत्तर कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि सत् जो स्वयं में पूर्ण है निरवयव होता है; और जो निरवयव है उसे बिना किसी विरोधाभास के अणु से अणुतर और महत् से महत्तर कहा जा सकता है। परिमाण वाली वस्तुओं कि तुलना में इसका कोई परिमाण नहीं होता।

जो कुछ भी देश-काल में होता है उसमें विस्तार होता है और वह सावयव होता है। यह स्वयं में पूर्णता के सिद्धान्त को साकार नहीं कर

सकता। और जो ऐसा कर पाता है उसे देश और काल से परे होना ही होगा। भौतिक जगत देश-काल के अंतर्गत है। हमारा मानसिक जीवन कम से कम कालिक है। एक मानसिक दशा को दशा के रूप में इसीलिए ग्रहण किया जाता है कि वह क्रमिक रूप से निरंतर अन्य दशाओं में परिवर्तित होती रहती है। हम प्रत्येक दशा को निस्संदेह एक अवधि में देखते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि यह समय के अनुसार बदलती नहीं या इसके होने को अल्पतम अवधि में विभाजित नहीं किया जा सकता है। आभासी वर्तमान जिसमें इन दशाओं को हम पहचानते हैं वह बीते हुये और आने वाले के बीच अतिसूक्ष्म विभाजक रेखा है और इसे सूक्ष्मतर किया जा सकता है। यह कोई वास्तविक अंतराल नहीं है जो भूत और भविष्य के बीच अपरिवर्तनशील वर्तमान के रूप में विद्यमान है। तब यदि मानसिक दशा का हमारा विश्लेषण ठीक है तो इसमें ऐसा कुछ नहीं हो सकता जिसे पूर्णता के सिद्धान्त को वास्तविकता में साकार करने वाला कहा जा सके।

एकमात्र चीज जो इस सिद्धान्त को साकार कर सकती है वह न तो देश में है न काल में और जिसका कोई आकार भी नहीं। हमारी आत्मा ही ऐसी सत्ता है। यह किसी श्रेणी में विस्तृत नहीं है। हमारी आत्मा का अन्तर्ज्ञान किसी ऐसी सरल चीज का अन्तर्ज्ञान है जिसे हम सावयव नहीं मान सकते। यह एक ही चीज का, एक समग्र का अन्तर्ज्ञान है। परंतु यह आत्मा अत्यंत सरल और अक्षरशः निराकार होने के बावजूद देश और काल की सभी श्रेणियों को धारण करती है। यह उनमें संश्लेषण का सिद्धान्त है। श्रृंखला चाहे जितनी बड़ी हो सीमित ही होगी। आत्मा उनमें अनंत का सिद्धान्त है। क्योंकि श्रृंखला समाप्त हो सकती है; लेकिन संश्लेषण के सिद्धान्त, जो श्रृंखला को संभव बनाता है, की कोई सीमा नहीं होगी। यह अल्पतम है क्योंकि यह बिलकुल सरल है; और फिर भी महानतम है, क्योंकि कोई भी श्रृंखला उसके बनाने वाले, जो स्वयं उसका भाग भी नहीं है, से बड़ी नहीं हो सकती।

अध्याय 10 : बहुलवाद और अद्वैतवाद

कुछ उस अर्थ में वास्तविक हो सकता है जिसका हमने पूर्व के अध्यायों में विस्तार से बताने का प्रयास किया। लेकिन क्या उस अर्थ में बहुत-सी चीजें वास्तविक हो सकती हैं? क्या एक से अधिक चीजों के वास्तविक होने में कोई अंतर्विरोध नहीं है? यही एक और अनेक की समस्या है। अब हम इसपर विचार करेंगे।

हमारा साधारण अनुभव बताता है की एकाधिक वास्तविक चीजें हैं। ये चीजें वस्तुतः या तो एक-दूसरे से संबंधित होंगी या एक-दूसरे से स्वतंत्र मानी जाएंगी। आओ मान लेते हैं कि वे एक दूसरे से संबंधित हैं। लेकिन तब वे विविधता का निर्माण नहीं कर सकतीं। क्योंकि तब एक-दूसरे से संबंधित चीजें अपने से भिन्न एक (उच्चतर) एकीकरण के सिद्धान्त को आपादित करेंगी। यह सिद्धान्त उनमें से एक नहीं होगा; यह विविधता का भाग नहीं हो सकता। यह विविधता से पृथक है, और उनमें एकता का स्थापक है। विविधता इससे भिन्न रूप में अवास्तविक है। यह एकता में है और एकता के कारण है। विविधता को वास्तविक होने के लिए उन्हें उन चीजों से बना होना होगा जो असंबंधित हैं और एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं।

वास्तव में, परस्पर स्वतंत्र चीजों से निर्मित विविधता अकल्पनीय है। परस्पर असंबंधित, स्वतंत्र चीजों की बहुलता को अनेकता कह ही नहीं सकते और अनेक के रूप में न जाने जाने के कारण वे किसी अर्थ में अनेक नहीं कही जा सकतीं। ज्ञान के एकीकरण के सिद्धान्त के कारण ही बहुलता हमारे लिए अर्थपूर्ण है। हम इस सिद्धान्त को कितना भी छोड़ना चाहे उसे बहुलता में निहित पाते ही हैं। एक बहुलता जिसे बहुलता के रूप में कल्पित न किया जाय किसी अर्थ में बहुलता ही नहीं है। यदि इसे माना भी जाय तो यह किसी भी तरह आत्मनिष्ठ नहीं होगी और इस तरह यह अपनी संज्ञा खो देगी। इसमें संबंध होता ही है और इसकी वास्तविकता एकता में और एकता के लिए होती है। हम बहुलता/अनेकता के बारे में जितना भी चिंतन करें, यह हमें एकता की तरफ ले ही जाती है।

हमने अभी तक एकता के सिद्धान्त को एक रहस्यपूर्ण इकाई की तरह माना है। लेकिन यह तर्क किया जा सकता है कि एक अर्थ में यह उचित नहीं प्रतीत होता है। एक बौद्धिक सत्ता के रूप में व्यक्ति वास्तव में अनेकों में एक होता है; हालांकि वह अन्य व्यक्तियों को ठीक उसी तरह जानता है जैसे वह स्वयं को। ऐसे लोगों की बहुलता विरोधाभासी नहीं होगी; क्योंकि व्यक्तियों से परे ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे उन्हें एकीकृत करने वाला या उन्हें अनेक रूप में जानने वाला कहा जा सके।

हालांकि, किसी व्यक्ति में स्वयं का ज्ञान इतना विशेष होता है कि वह उस तरह की केवल एक ही चीज (स्वयं) को वास्तविक रूप में जान सकता है। अन्य चीजें (अपने से) बाह्य वस्तु के रूप में और एक-दूसरे से

संबंधित जानी जाती हैं। वे किसी एक प्रकार की वस्तुओं जैसी होती हैं और अन्य प्रकार की वस्तुओं से भिन्न होती हैं। वे हमारे लिए अनेकता में सहभागी अवयवों के अर्थ में ही वास्तविक हैं। दूसरी तरफ आत्मा कोई बाह्य वस्तु नहीं है। इसे किसी अन्य आत्मा की तरह या उससे भिन्न अर्थ में नहीं कल्पित किया जा सकता है। इसका ज्ञान संबंध आधारित ज्ञान नहीं है। यह संबंध स्थापित करने की प्रत्येक क्रिया की पृष्ठभूमि में है। इसलिए आत्मा के बारे में विचार करना अनिवार्य रूप से किसी ऐसी चीज के बारे में विचार करना है जो कभी भी बहुलता का हिस्सा नहीं बन सकती, यह एक और अपने में अनोखी है। हम कभी भी आत्म-प्रकृति की विविधता को नहीं जान सकते। हम यह कैसे कह सकते हैं कि हम अन्य आत्माओं को वैसे ही जानते हैं जैसी स्वयं की आत्मा को? जहां तक व्यक्ति को एकीकरण के सिद्धान्त के रूप में जाना जा सकता है, वहाँ तक कोई अन्य व्यक्ति नहीं केवल वस्तुएँ होती हैं। वास्तविक व्यक्तियों की बहुलता एक ज्ञानमीमांसीय दोष है। केवल वस्तुओं के संदर्भ में बहुलतावाद संभव है जो हमारे साधारण अनुभव जगत का निर्माण करती हैं।

यह तर्क किया जा सकता है कि हमें केवल इतना ही ज्ञान नहीं है कि "हम हैं" बल्कि हम यह भी जानते हैं हम अनुभव का केंद्र हैं। और अनुभव इसलिए संभव है कि व्यक्ति से भिन्न कोई ऐसी चीज है जिसे जाना जा सकता है या जिससे संवाद किया जा सकता है। अनुभव मात्र के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि एकता नहीं बल्कि किसी प्रकार की बहुलता वास्तविक है।

अब इसमें कोई संदेह नहीं कि व्यक्ति अनुभव करता है। लेकिन यह तर्क करना एक बात है कि अनुभव यह संकेत करता है कि अनुभवकर्ता से भिन्न भी कुछ वास्तविक होना चाहिए और यह दूसरी बात कि अनुभव के पूर्व कम-से-कम दो चीजें वास्तविक होनी चाहिए। दूसरी बात पहली बात का ही एक अस्वीकार्य विस्तार है, और जैसा कि वास्तविकता है, इसे कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता। हम कभी भी किसी ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं कर सकते जो अनुभव के पूर्व हो, और यह कभी नहीं दिखा सकते कि इसमें एक से अधिक चीजें शामिल हैं। इस तरह केवल एक ही प्रश्न पूछने को रह जाता है कि क्या अनुभव स्वयं में अनुभवकर्ता के अतिरिक्त किसी अन्य चीज का संकेत करता है?

इसमें कोई संदेह नहीं कि यह (अनुभव) अनुभवकर्ता से भिन्न किसी अन्य चीज का संकेत करता प्रतीत होता है। यह "अन्य", जैसा कि पूर्व में हमने देखा, कोई व्यक्ति न होकर केवल वस्तु हो सकता है। लेकिन चूंकि कुछ "अन्य" के रूप में प्रतीत होता है या अन्य के रूप में अनुभूत है, क्या यह वास्तव में "अन्य" है? दोनों प्रस्तावों (अन्य का प्रतीत होना और अन्य का होना) के बीच तब तक कोई तार्किक संबंध नहीं है जब तक हम बाद वाले से वही अर्थ न निकालें जो पहले वाले से समझते हैं। अन्य के रूप में अनुभूत अन्य तभी होगा जब इसका ऐसा अनुभव किया जाय। ऐसा कोई तरीका नहीं जिससे हम किसी चीज का अनुभव किए बिना उसकी कल्पना कर सकें। हम अस्पष्ट रूप से इसके बारे में बात कर सकते हैं कि यह किसी प्रकार की (अनुभव से) स्वतंत्र वस्तु है। परंतु जब तक हम इस सत्ता को (अनुभव की) वस्तु में नहीं बदल देते तब तक यह हमारे लिए किसी अर्थ में वास्तविक होने से वंचित रहती है। और एक बार जब इसे हम वस्तु रूप कल्पित कर लेते हैं, तब इसके लिए ज्ञान का संबंध अंतिम होता है और फिर कभी भी इसे इस संबंध से परे वास्तविक सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

यहाँ यह तर्क किया जा सकता है कि यदि ज्ञान से संबंध वस्तु के लिए चरम है, यह (ज्ञान से संबंध) अनुभवकर्ता के लिए भी कमतर नहीं है। व्यक्ति स्वयं को भी तभी जानता है जब वह स्वयं को अन्य वस्तुओं से भिन्न रूप में जानता है। वस्तु के चेतना के द्वारा ही व्यक्ति आत्म-चेतन होता है। यह दृष्टिकोण बिलकुल स्वाभाविक है। क्योंकि हमें स्वयं की अनुभव से परे शुद्ध चेतना के रूप में कोई अनुभूति नहीं है। और इसे यदि केवल अनुभवकर्ता के रूप में जाना जा सकता है तो ज्ञान का संबंध इसके लिए अनंतिम नहीं कहा जा सकता (अर्थात् स्वयं की वस्तु के रूप में अनुभूति वास्तविक होगी)। यदि ऐसा है तो विषय अनिवार्य रूप से विषयी को आपादित करता है और विषयी भी विषय को कम आपादित नहीं करता। अनुभवकर्ता केवल अनुभूत वस्तु के संदर्भ में ही अनुभवकर्ता है।

हमने कहा कि हम स्वयं को केवल एक अनुभवकर्ता के रूप में जानते हैं। लेकिन क्या है जो अनुभवकर्ता बनाता है? यह किसी ऐसे आकार की सत्ता नहीं है जिसे हम शुद्ध सत्ता से पृथक कर सकते हैं। हम अनुभवकर्ता पर कितना भी चिंतन क्यों न करें, हम इसे कोई आकार नहीं दे सकते। साधारण शब्दों में, अनुभवकर्ता आत्मा या शुद्ध सत्ता जैसा ही गूढ़

है। उसे अनुभवकर्ता बनाने वाली चीज की स्वीकृति किसी ऐसे रूप की मान्यता नहीं है जिसे हम शुद्ध सत्ता से अलग कर सकते हैं, बल्कि किसी अन्य वस्तु के प्रति चेतन होने में इसके उपस्थिति की स्वीकृति है। यदि अनुभवकर्ता अनुभवकर्ता के रूप में कोई विशिष्ट आकार होता, तो हम तर्क कर सकते कि अनुभवकर्ता के न होने पर इसकी भी अनुपस्थिति हो जाती है। लेकिन हम किसी रूप/आकार की ओर संकेत नहीं कर सकते। निस्संदेह हम इसे उस रूप में जानते हैं जो अनुभव करता है। लेकिन इस "उस" के बारे में हमारे पास "उस" के रूप में कोई अन्तर्ज्ञान नहीं है। लेकिन यह तो बस अनपेक्षित और इसलिए शुद्ध सत्ता का अन्तर्ज्ञान है।

हमारे अंदर सभी चीज को वस्तुनिष्ठ सत्ता के रूप में बदलने की प्रवृत्ति होती है। क्योंकि तब हम इसे ठीक तरीके से समझ पाते हैं। इसलिए यह आश्चर्य नहीं कि लगता है कि हम स्वयं को केवल स्वयं के रूप में जानने की अपेक्षा एक अनुभवकर्ता या विषय के रूप में जानते हैं। लेकिन क्या हमारा इसका (स्वयं का) अनुभवकर्ता के रूप में ज्ञान अधिक संतोषजनक या अधिक मूर्त है? (ऐसा) हम नहीं सोचते। इसके विपरीत हम स्वयं को वस्तुओं से जोड़कर अपना बाहरीकरण कर देते हैं। हम इसे "वह" सोचते हैं न कि "मैं"। हमारे अंदर अनुभवकर्ता की एक प्रकार की छवि होती है जो कि वस्तुओं के साथ ज्ञानात्मक रूप से जुड़कर निकलती है; हमारे पास "मैं" की सपने में भी कोई वस्तुनिष्ठ छवि नहीं होती। जब नींद या उस जैसी अन्य दशाओं में हम अनुभवकर्ता की अनुपस्थिति को जानते हैं, तो वह स्वयं हमारे लिए एक विषय जैसा हो जाता है। आत्मा वस्तुतः आत्मा न रह जाने के रूप में कभी नहीं जाना जा सकता है; क्योंकि आत्मा के अलावा और कुछ भी नहीं जो संभतः इस तथ्य का ज्ञान प्राप्त कर सके। इसलिए जिसे हम अधिक निकटता से जानते हैं और जो आत्म विशेषण के अधिक योग्य है वह अधिक या कम अनुभवकर्ता नहीं है बल्कि वह शुद्ध और निरपेक्ष सत्ता है जो स्वयं अनुभवकर्ता को उद्घाटित करती है, और जिसे कभी समाप्त होते हुए नहीं जाना जा सकता है।

आत्मा वस्तुतः अनुभवकर्ता है, लेकिन ऐसा होकर वह स्वयं से भिन्न किसी सत्ता के होने का संकेत नहीं देती। और इसलिए यह तर्क कि अनुभव का तथ्य किसी प्रकार के बहुलतावाद की स्थापना करता है उचित नहीं ठहराया जा सकता।

किसी प्रकार की वास्तविक बहुलता स्वयं-आधारित नहीं हो सकती है। इसलिए यह कभी भी वस्तुओं की प्रवृत्ति में नहीं हो सकती। यह केवल एकता के भीतर ही वास्तविक होती है। और भी कि यह एकता बुद्धि-स्वरूप होनी चाहिए। क्योंकि तभी यह संबंध को बनाते हुए बहुलता को बहुलता के रूप में महत्वपूर्ण बना सकती है। बहुलता को बहुलता के रूप में ही समझना चाहिए। दूसरी तरफ एकता कल्पना के दायरे से परे होनी चाहिए, यह एकता ही होनी चाहिए। यदि इसकी कल्पना की जा सके, तो इसे हम बहुलता से भिन्न नहीं रख सकते, या इसे बहुलता के आधार के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। इसका उचित निरूपण इसमें नहीं है कि यह एक है, बल्कि इसमें है कि यह अनन्य है। इस एकता का दर्शन केवल सच्ची आत्मा में ही किया जा सकता है।

अध्याय 11 : सत्ता और मूल्य

मूल्य के बारे में हमारा निर्णय कुछ ऐसी चीज के बारे में निर्णय है जो है या जिसके होने की संभावना है। उसमें होना शामिल है। हालांकि मूल्य की अवधारणा और होने/अस्तित्व की अवधारणा में एक अंतर है। जहां अस्तित्व द्वैत को आपादित नहीं करता, वहीं मूल्य की अवधारणा में द्वैत की अपेक्षा से होती है। किसी चीज का मूल्य किसी के लिए है। यदि सत्ता चीजों और व्यक्तियों में विभाजित नहीं होती, यानि पूरी तरह अद्वैत की स्थिति होती, तो ऐसी दशा में किसी चीज की कोई सराहना और इसलिए उसके मूल्य का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में, किसी चीज की सराहना का संबंध उसके निश्चित गुणों से ही हो सकता है न कि उसके होने मात्र से। इसलिए मूल्य की अवधारणा न केवल इसकी पूर्वापेक्षा करती है कि किसी चीज का अस्तित्व हो बल्कि यह भी अपेक्षा करती है कि उसके चरित्र में (गुणी-गुण) द्वैत रखती हो, और उसके कुछ गुण हों।

हालांकि सत्ता स्वयं में कोई गुण शामिल नहीं करती जिसे कहा जा सके कि वे इसे मूल्य प्रदान करते हैं। जिसे हम शुभ या अशुभ कहते हैं वे समान रूप से एक तथ्य हैं; और एक तथ्य के रूप में वे बस होते हैं। ये विशेषण केवल तभी अर्थपूर्ण होते हैं जब वे जिन तथ्यों पर लागू होते हैं वे हमारे प्रयोजन में साधक या बाधक होते हैं। मूल्य की अवधारणा अनिवार्य रूप से सप्रयोजन है। इसलिए किसी चीज को प्रयोजन या प्रयोजन-धारक के संदर्भ के बिना मूल्यवान नहीं कहा जा सकता।

प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि सभी मूल्य वस्तुनिष्ठ होते हैं, और चीजें इसलिए मूल्य नहीं रखती कि व्यक्ति (उनके बारे में) ऐसा सोचता है, बल्कि वे मूल्य रखती हैं क्योंकि वे किन्हीं आदर्शों को धारण करती हैं जो व्यक्तियों, लक्ष्यों और उद्देश्यों के परे हैं और जिनके वास्तविक होने को व्यक्ति चाह सकता है। इसलिए जब व्यक्ति किसी मूल्य की सराहना करता है तो वह इस आदर्श की वस्तुनिष्ठता और स्वतन्त्र सत्ता के कारण इसकी ओर आकृष्ट होता है। व्यक्ति मूल्य बनाता नहीं है वह केवल इसको पसंद करता है।

यह एक महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है कि चीजें केवल अस्तित्व में होने के कारण ही मूल्य नहीं रखती, बल्कि वे इसलिए मूल्य रखती हैं वे किन्हीं आदर्शों को धारण करती हैं। मूल्य की अवधारणा में किसी ऐसी चीज का एक अनिवार्य संदर्भ होता है जो सराही गयी वस्तु से परे है और जिसके कारण वह वस्तु मूल्यवान है। परंतु क्या "यह चीज जो परे है" उस अर्थ में वस्तुनिष्ठ हो सकती है जिस अर्थ में वह वस्तु स्वयं में (वस्तुनिष्ठ) है? यदि ऐसा होता तो यह (मूल्य) एक विशेष तथ्य होता। ऐसे में इसे आदर्श या ऐसी चीज कहने का क्या मतलब होता जिसके संबंध में ही किसी चीज का मूल्य हो?

आदर्श एक वस्तु की तरह वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता। लेकिन यह तर्क किया जा सकता है कि यह फिर भी व्यक्ति से स्वतंत्र है; क्योंकि व्यक्ति आदर्श का निर्माण नहीं करता, यह केवल इसे इस रूप में पहचानता है। हालांकि यह पूछना प्रासंगिक है कि किस तरह के अस्तित्व को व्यक्ति के द्वारा आदर्श के रूप में पहचाना जाता जाता है? यह साफ प्रतीत होता है कि हम कभी भी ऐसे तथ्य का संकेत नहीं कर सकते जो पहले ही अस्तित्व में विद्यमान हैं और कहें कि यह हमारा आदर्श है। एक तथ्य केवल एक तथ्य होता है। इसके बारे में आदर्श की तरह अपरिभाष्यता और "अभी होना शेष है" जैसी बात हम नहीं कह सकते। लेकिन यदि एक आदर्श तथ्य नहीं है, तो इसे उस व्यक्ति से स्वतंत्र कैसे कहा जा सकता है जिसने इसे अपने लिए (एक ध्येय के रूप में) निर्धारित किया है? हमें ऐसा लगता है कि आदर्श के वस्तुनिष्ठता की अवधारणा ही व्याघाती है। एक आदर्श केवल विचार में वास्तविक है। जैसे इसे जीवन में उतारा जाता जाता है वैसे यह अपनी संज्ञा खो देता है और हम इसे तथ्य के रूप में देखने लगते हैं।

परंतु क्या हम व्यक्ति के योगदान को यहाँ कुछ ज्यादा ही महत्व नहीं दे रहे हैं? कोई चीज इसलिए मूल्यवान है क्योंकि यह पसंद की जाती है; यह पसंद की जाती है क्योंकि यह मूल्यवान है। एक व्यक्ति इसे मूल्य के रूप में पहचानने के लिए कमोबेश बाध्य है। और जब वह इसे पहचानता है तो उसे यह भी बोध होता है कि इसे मूल्यवान बनाने में उसका कोई व्यक्तिगत योगदान नहीं है। मूल्य की वस्तुनिष्ठता विभिन्न व्यक्तियों में (इसके बारे में) व्यावहारिक सहमति से भी प्रमाणित होती है। बहुत कम मामलों में ऐसा होता है कि उनमें कोई वास्तविक मतभेद हो, और इसलिए यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या निर्णीत मूल्य अंततः एक शुद्ध व्यक्तिगत मामला नहीं है। लेकिन तब भी कोई यह नहीं सोचता कि मूल्य केवल उसके हैं। वह पूरी बिल्कुल आश्वस्त होता है कि वस्तु स्वयं में मूल्यवान है, और वह केवल इसे पहचान रहा है। मूल्य की वस्तुनिष्ठता इस प्रकार एक तथ्य है यद्यपि हमें इसकी व्याख्या के लिए एक उपयुक्त सिद्धान्त का पाना शेष हो सकता है।

अब हम व्यक्ति कि इस बात की प्रामाणिकता पर संदेह नहीं करते कि उसने उस मूल्य को केवल पहचाना है जो पहले से विद्यमान है और उसने इसे बनाया नहीं है। लेकिन इसका यदि कोई अर्थ है तो वह यह कि मूल्य ऐसे हो सकते हैं जिनको न तो किसी ने पहचाना और न प्रशंसा की। लेकिन क्या यह सत्य है? एक चित्र को मूल्यवान तभी कहा जा सकता है जब वह देखने में सुखद हो। इस बारे में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न मत हो सकता है कि यह किस हद तक सुखद अनुभूति का उत्पादक है, लेकिन बहुत सारे लोग इस बात पर सहमत होंगे कि इसका कुछ सौंदर्य मूल्य है। फिर भी, यह देखना कठिन नहीं है कि इसमें सुंदरता के तत्त्व हैं और इसका आनंद लिया जाना चाहिए। और सुंदरता जिसका आनंद किसी ने न लिया हो, किसी भी अर्थ में सुंदरता नहीं कहा जा सकता। यह अधिक से अधिक किसी स्थान पर किसी तरह बिखरे हुये कुछ रंगों का समूह हो सकता है। रंगों के समूह मात्र का अपना कोई सौंदर्य मूल्य नहीं है।

अब हम नैतिक मूल्य पर विचार करते हैं। नैतिक मूल्य किसी ऐसी वस्तु से संबन्धित नहीं है जो केवल बाह्य जगत में विद्यमान है। इसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और किसी नैतिक अभिकर्ता के ध्येय के संदर्भ के बिना

नहीं समझा जा सकता। जो प्रकृति की कारणता के नियम के तहत फलीभूत होता है उसका कोई नैतिक मूल्य नहीं होता। न ही उसे नैतिक कहा जा सकता है जो व्यक्ति के अवचेतन में विद्यमान उच्चतर और संतुलित की तरफ बढ़ने की आकांक्षाओं को संतुष्ट नहीं करता। आदर्श, जिससे व्यक्ति प्रेरित होता है, न तो परिभाष्य है न हो सकता है। इसका सार यह है कि जैसे जैसे व्यक्ति इसके पास पहुंचता है इसे बढ़ना चाहिए। जो वृद्धिमान नहीं है और जो व्यक्ति को केवल मिलता है वह वस्तुओं की तरह सीमित ही हो सकता है; यह आदर्श नहीं हो सकता है। आदर्श एक नियामक विचार है जिसके अनुसार विचार करने वाला व्यक्ति अपने आचरण को ढालना चाहता है। यदि कोई कर्म नैतिक रूप से इसलिए मूल्यवान है कि यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है और उन आदर्शों से प्रेरित है जिसे व्यक्ति जीवन में उतरना चाहता है, तो यह किस प्रकार के वस्तुनिष्ठ मूल्य का धारक कहा जा सकता है। हमारे विचार में मूल्य की वस्तुनिष्ठता की सम्पूर्ण संकल्पना ही व्यर्थ है। मूल्य मूल्य है क्योंकि इसकी सराहना की जाती है, न कि इसलिए कि यह मूल्य (बाकी तथ्यों की तरह) है।

मूल्य वस्तुओं में नहीं होता। मूल्य का वास्तविक आश्रय व्यक्ति है जो वस्तुओं का मूल्यांकन करता है। लेकिन उसके लिए सर्वोच्च मूल्य क्या है? यह किसी प्रकार का भोग या क्रिया हो सकता है। लेकिन भोग और क्रिया किसी अन्य वस्तु की उपस्थिति पर निर्भर हैं; इसका मतलब यह हुआ कि सर्वोच्च मूल्य के प्राप्ति की सीमा है। और क्रिया (जिसमें भोग भी शामिल है) स्वरूपतः सकर्मक होती है, यह उस उद्देश्य द्वारा निर्धारित होती है जो व्यक्ति चाहता है; और जब उद्देश्य पूरा हो जाता है क्रिया के जारी रहने की दशा समाप्त हो जाती है। फिर क्या? क्या व्यक्ति को जड़ता में चले जाना चाहिए या निराकांक्ष हो जाना चाहिए? या क्या उद्देश्यहीनता की दशा में उसे पुनः साकांक्ष हो जाना चाहिए? सच्चाई यह है कि क्रिया अस्तित्व का लक्ष्य नहीं हो सकती। अस्तित्व का लक्ष्य अस्तित्व ही है।

यह रहस्यवादी भाषा लगती है। और फिर भी यह देखना कठिन नहीं है कि यह उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति के लिए हमारे सभी कर्मों के आंतरिक उद्देश्य को अभिव्यक्त करती है। क्योंकि सभी प्रयासों का यदि कोई उद्देश्य होना है, तो यह स्पष्ट रूप से किसी अस्तित्व की पूर्णता की दशा में होना चाहिए। अस्तित्व जिस रूप में सोचा जाय अस्तित्व ही होगा। यह

किसी भी तरह से हमारी उस स्वाभाविक स्थिति से भिन्न नहीं हो सकता जब हम कुछ पाने का प्रयास नहीं कर रहे होते हैं, न किसी चीज की चिंता कर रहे होते हैं। हानि और लाभ के सभी विचार भ्रम मात्र हैं। आत्मा, अस्तित्व रूप में, सभी मानवीय प्रयासों का एकमात्र स्वाभाविक लक्ष्य है। यह सर्वोच्च मूल्य है, और यह एकमात्र ऐसा मूल्य है जिसे स्वयं होने के स्वभाव वाला कहा जा सके।

अध्याय 12 : सुख

सत्ता का सत्तामात्र के रूप में विचार करने पर यह नहीं माना जा सकता कि यह ऐसी दशा में है जिसे उचित रूप से "सुख" कहा जा सके। सत्तामात्र सत्ता से अधिक कुछ नहीं हो सकती। केवल व्यक्ति या चेतन आत्मा सुखी हो सकती है। लेकिन हमें यह सोचने का आधार मिला है कि व्यक्ति ही सत्ता का सच्चा स्वरूप और वास्तविक प्रतीत होने वाली समस्त वस्तुओं का आधार है। इसलिए सुख का विचार अनिवार्य रूप से उस सत्ता से संबन्धित है।

बाह्य वस्तुएं व्यक्ति द्वारा जानी जाती हैं। लेकिन केवल यही सच्चाई नहीं। वे इसमें सुख-दुख, संतुष्टि और संतुष्टि की चाहना भी उत्पन्न करती हैं। वे अनिवार्यतः उसके जीवन के आनंद में प्रवेश करती हैं। अब यह माना जा सकता है कि ऐसी भी चीजें हो सकती हैं जो उसके सुख से संबन्धित नहीं हैं। बहुत-सी वस्तुएं हैं जिनका हम प्रयोग नहीं जानते। ऐसी चीजें क्यों नहीं हो सकती हैं जो उन वस्तुओं में कभी न शामिल हों जो उसके सुख के विषय बनती हों?

हम इस बात की संभावना से इंकार नहीं करते कि ऐसी वस्तुएं हैं जो व्यक्ति को प्रत्यक्ष सुख या दुख नहीं देती। उनकी उपस्थिति उसे सुख नहीं देती और उनका अभाव उसे दुख नहीं देगा और इसके विपरीत भी। वे प्रकृति में एक तथ्य के रूप में विद्यमान हैं और वह इसे इन्हीं रूप में जानता है। हालांकि यह सोचना एक भूल है कि जिसे इस रूप में जाना गया है उन्हें शुद्ध रूप में जाना गया है। हमारी इंद्रियाँ ज्ञान के साधन मात्र नहीं हैं। वे आनंद (भोग) के भी साधन हैं। और इसलिए उनका ज्ञान प्राप्त करते समय ही हम उन्हें अपनी खुशी से जोड़ते हैं। चीजें हमारे समक्ष हेय या उपादेय के रूप में प्रस्तुत होती हैं या इस रूप में प्रस्तुत होती हैं जिन्हें किसी तरह हमारी अवचेतन आवश्यकताओं से समायोजित किया जाना चाहिए। किसी

वस्तु का ज्ञान ऐसा नहीं है जो इस तरह के समायोजन की आवश्यकता से रहित हो, और इस तरह हमारे द्वारा भोग्य न हो। भोग हमारे जीवन का उतना ही मौलिक कार्य है जितना कि ज्ञान, जो इस सामान्य विचार को दर्शाता है कि जगत हमारी इच्छा का परिणाम है।

हम चीजों का आनंद लेते हैं। लेकिन इस आनंद का वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या आनंद चीजों से आता है? दूसरे शब्दों में, क्या यह चीजों के स्वभाव में है कि वे आनंद उत्पन्न करें? चलो मान लेते हैं कि ऐसा ही है। उस दशा में उन्हें सदैव, प्रत्येक देश-काल में, आनंद देना चाहिए। परंतु ऐसा नहीं है। इसलिए यह मानना होगा कि सुख अंशतः कुछ व्यक्तिगत कारणों, जैसे शरीर की दशा, या व्यक्ति की भोग के लिए उपस्थित वस्तु में अभिरुचि, पर निर्भर है। परंतु यही पूरी कहानी नहीं है। हम पाते हैं कि शारीरिक और मानसिक स्थितियों की सामान्य दशा में आनंद का वास्तविक प्रभाव स्वयं को व्यक्ति पर बाहर से आरोपित नहीं करता। व्यक्ति केवल प्राप्तकर्ता बनकर आनंद नहीं ले सकता। इसे पाने के लिए उसे सक्रिय होना होता है। और (यह) क्रियाशीलता आनंदप्रद वस्तु को प्राप्त करने की आवश्यकता निर्मित करने में निहित होती है। वास्तव में स्वाभाविक भूख की दशा में हम किसी क्रिया के प्रति जागरूक नहीं होते। लेकिन वहाँ मानसिक अशांति होती है— हम कुछ चाह रहे हैं। जहां हम चाह नहीं रहे होते हैं वहाँ चाहत को उत्पन्न करते हैं। और जब तक हम इसे उत्पन्न नहीं करते हैं हमें आनंद नहीं आता है।

कभी-कभी यह माना जाता है कि हम मिठाई चाहें या न चाहें, मुँह में मिठाई के टुकड़े को डालने मात्र से ही सुख मिल जाता है। इससे अधिक सच्चाई से दूर बात क्या हो सकती है। मुँह में मिठाई का टुकड़ा डाल लेने के साथ ही आनंद नहीं मिल जाता। हम तुरंत इसपर प्रश्न चिह्न लगाते प्रतीत होते हैं— और इस पर प्रश्न उठाते ही हम शरीर की आवश्यकता पर भी प्रश्न उठा रहे होते हैं। उस टुकड़े की, मिठाई के टुकड़े के रूप में पहचान ही इसका मीठी चीज के रूप में आनंद नहीं है। आनंद क्रमशः आता है, और जैसे-जैसे आवश्यकता बढ़ती जाती है आनंद बढ़ता जाता है। किसी चीज से वास्तव में आनंद पाने के लिए हमें सोचना होता है। हमें इंद्रियों को खोल देने मात्र से आनंद अंदर नहीं आ जाता।

इस प्रकार हम पाते हैं कि आनंद की प्राप्ति अनिवार्यतः आवश्यकता की उपस्थिति पर निर्भर है। यदि हमें जरूरत नहीं महसूस हुई, वस्तु में कुछ भी हमें कोई आनंद नहीं दे सकता। परंतु चूंकि हमें इसका (जरूरत) का अनुभव होता है, इसलिए वस्तु इसे हटा सकती है। यह हमें कोई सकारात्मक आनंद नहीं दे सकती। वास्तव में, (वह) चीजें हमें (कभी) आनंद दे सकती हैं जिसकी सामान्य स्थिति में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि उसमें कोई सुख-उत्पादक गुण है। उदाहरण के लिए, बिच्छू के डंक से उत्पन्न दर्द से राहत से बढ़कर सुख और क्या हो सकता है? लेकिन सामान्य स्थिति में इस उपचार का कोई मूल्य ही नहीं है। सुख या आनंद बिल्कुल व्यक्तिगत बात है, यह कमोबेश दुख के निराकरण में निहित हो सकता है, जो कि आवश्यकता या चाहत की दशा है।

यह हमें एक अन्य निष्कर्ष पर ले जाता जाता है। सुख व्यक्ति में आता नहीं है। यह एक महत्वपूर्ण अर्थ में पहले से ही उसके अंदर है। क्योंकि यदि यह सही है कि जिसे हम सुख कहते हैं वह इच्छा की शांति में निहित है, तो व्यक्ति के कल्याण की सर्वोत्तम दशा केवल इच्छाहीनता और संतुलन की दशा होगी। इच्छाहीनता (निष्कामता) की दशा में किसी वस्तु का आनंद लेने की आवश्यकता नहीं होती। इसकी प्रेरणा किसी बाह्य वस्तु से नहीं होती। कह सकते हैं कि यह आत्मा की स्वरूप दशा है जो इच्छारहित और इसलिए सुख-दुख से परे है। कोई भी दशा जिसमें व्यक्ति हो सकता है इससे अधिक सुखद नहीं हो सकती। क्योंकि सभी तथाकथित सुख मूलतः दुख ही हैं। इसमें तृष्णा/इच्छा निहित है। और जब इस इच्छा की पूर्ति हो जाती है तो अस्तित्व में कोई वृद्धि नहीं होती बल्कि केवल आत्म के संतुलन की दशा में पुनः वापसी होती है। इसलिए आत्मा जैसी है वह सुख और कल्याण की हमारी इच्छाओं से तृप्त है। खुशी की वे छवियाँ जो हमें सदा आकर्षित करती हैं बिना किसी अपवाद के इच्छाओं के दुष्क्र की छवि हैं। वे सुख देती हैं क्योंकि हमें निष्कामता के आनंद का बोध नहीं है, और हम यह नहीं जानते कि सारे सुख अंततोगत्वा इच्छाहीनता और संतुलन की तरफ वापसी ही हैं।

आत्मा की इच्छाहीनता या उसकी शांति की इस दशा की तुलना प्रायः पत्थर की जड़ता से की जाती है। यह तर्क किया जाता है कि पत्थर सुख-दुख नहीं जानता। यदि आत्मा भी इनसे परे है, तो यह पत्थर से भिन्न

कैसे है? इस दशा का हम कितना ही गौरवगान करें, यह किसी को संतुष्ट नहीं कर सकेगा।

पत्थर को वास्तव में न तो सुख का पता है न दुख का। लेकिन न तो हम यह कह सकते हैं कि यह संतुलन दशा में है, न ही यह कि यह शांति की दशा में है। इसमें बौद्धिक सत्ता का अभाव है, और इसलिए इसमें सुख-दुख को अनुभव करने की क्षमता का भी अभाव है। आत्मा पत्थर नहीं है। इसकी बौद्धिक सत्ता है। प्रश्न उठता है कि इस सत्ता के रूप में उसके लिए किस प्रकार का आनंद स्वाभाविक है?

यह जानना मुश्किल नहीं है कि जो बौद्धिक है उसे ऐसी दशा में होना चाहिए जिसे कल्याण के रूप में ही उचित रूप से निरूपित किया जा सके। कहने का तात्पर्य है कि आनंद के सिद्धान्त का बुद्धिमत्ता के सिद्धान्त के साथ सह-अस्तित्व है। हम ऐसी "होने की दशा" के बारे में नहीं सोच सकते जिसे संतोषजनक या असंतोषजनक कहा जा सके और जो बुद्धिमान न हो। हमने देखा कि आत्मा के लिए यह दशा वस्तुओं से उत्पन्न किसी प्रकार के आनन्द की दशा नहीं है। आनंद इसका स्वरूप ही है। जब बाह्य वस्तुओं के प्रति समस्त रुचियों का अवसान हो जाता है तो यही बचता है। वास्तव में, यह समस्त इच्छाओं की पूर्ति है। क्योंकि निष्कामता और आत्म-तृप्ति से बढ़कर सुखकारी और कोई दशा नहीं हो सकती। यह सर्वोच्च शांति है, जो मानव जीवन का लक्ष्य है। — समाप्त

दर्शनशास्त्र विभाग

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (म. प्र.) 470003

पुस्तक-समीक्षा
एक संवाद-आहोपुरुषिका का सभ्यता-विमर्श :
कविता एवं अनुवाद के साथ

प्रवीण पण्ड्या

प्रख्यात विद्वान् वागीश शुक्ल की कृति 'आहोपुरुषिका' कविता, अनुवाद और विमर्श की त्रयी है। त्रयी शब्द तीन का वाचक नहीं है। यह उस अवस्था का बोधक है, जब कोई एक ही तीन तरह से अभिव्यक्त हो रहा हो और तीन तरह का होते हुए भी एक हो। इस त्रयी पर विचार करने हेतु लिखे जा रहे इस लेख में हम सभ्यता के लिए विकसित हुई आधुनिक पश्चिमी दृष्टियों (यहूदी, ईसाई, इस्लाम और कम्यूनिज्म) को अब्राहम दृष्टि कहेंगे। भेद होने के बावजूद प्राचीनतम भारतीय व ग्रीक दृष्टि को एक साथ रखते हुए ब्राह्म कहेंगे। यह विमर्श है— ब्राह्म और अब्राहम दृष्टियों के मूलभूत अन्तर और उससे उत्पन्न होती सभ्यताओं के मूल्यों पर विचार। ग्रीक सभ्यता, जो अपने देश में नहीं रही और भारतीय सभ्यता, जो अपने देश में सनातन (विद्यमान) है— दोनों के बीच संवाद है।' अब्राहम और ब्राह्म दृष्टियों के बीच विसंवाद के स्थान ये हैं—

1. ब्राह्म दृष्टि बहुदेववाद को मानती है, अब्राहम दृष्टि एकदेववाद को मानती है। आहोपुरुषिकाकार वागीश शुक्ल के अनुसार बहुदेववाद और एकदेववाद से जो सभ्यता बनती है, वह सभ्यता क्रमशः बहुतों के पूज्य होने व एक के ही पूज्य होने के चिन्तन में परिणत होती है। वागीश शुक्ल आगस्टाइन और लियोतार की दृष्टियों को यहाँ उद्धृत करते हैं। आगस्टाइन आधुनिकता के सिद्धान्तकारों में अन्यतम हैं और लियोतार (ल्योतार) उत्तर आधुनिकता के विचारक हैं। एकदेववाद वस्तुतः एक के पूज्य होने का वाद है, जो वसुधा को कुटुम्ब नहीं बनाता है, अपितु उसे एक के आधिपत्य में

उन्मीलन-वर्ष 39, अंक 1, जनवरी-जून 2025

ISSN-0974-0053 (Refereed Journal)

आहोपुरुषिका, वागीश शुक्ल, सेतु प्रकाशन प्रा.लि, सी-21, सेक्टर-65,

नोएडा (उत्तर प्रदेश) 201301, पृ. 24+363, मू. 399

लाने की सोचता है। मार्क्सवादी आलोचक ल्योतार आधुनिकता के इस एकपूज्यवाद की व्याख्या करते हैं। वह मार्क्सवाद को भी इसी सभ्यता-विमर्श में समेटते हैं।

2. ब्राह्म दृष्टि वाक् की उपासक है, अब्राहम दृष्टि किताब की। ब्राह्म दृष्टि में वाक् के वाचिक, लिखित रूपों की अधमोत्तमता नहीं है, वह वाक् के सभी रूपों को समान महत्त्व देती है। वह वाक् से परे जाती है, परा वाक् को कसौटी मानती है। अब्राहम दृष्टि लिखित को परम मानती है, वाचिक की उपेक्षा ही नहीं, अपितु निषेध करती है।

3. ब्राह्म अवधारणा पर आधारित है, जो स्थानीयता से अनुकूलित होती है, जबकि अब्राहम आचरण पर आधारित है, जिसमें विश्ववाद रहता है, स्थानीयता या विकल्प को कोई अवसर नहीं है। अब्राहम में अवधारणा है, किन्तु उसका बल आचरण पर होता है। वागीश शुक्ल लिखते हैं — “इस्लाम के स्वीकार की भी शर्त यही है कि मनुष्य अपनी कौटुम्बिकता का परित्याग करके एक व्यष्टि-शेष के रूप में इस्लाम स्वीकार करे।”² मार्क्सवाद के साथ भी यही स्थिति है कि मार्क्सवादी होने के लिए व्यक्ति को अपनी समस्त पहचानों—राष्ट्र आदि का परित्याग करना होगा।³ मनुष्य जब किसी अब्राहम दृष्टि के मजहब में जाता है तो उसे उसके सभी सम्बन्धों और सन्दर्भों से काट दिया जाता है। वह एक तरह से शून्य हो जाता है, खाली हो जाता है। लियोतार इसे जीरो होना कहते हैं। वागीश शुक्ल इसे खालीपना (महारिक्ति) कहते हैं। वागीश जी ने ये निष्कर्ष लियोतार द्वारा की गयी आगस्टाइन की विवेचना से गृहीत किये हैं और एतद्विषयक लियोतार का एक लम्बा उद्धरण उसकी पुस्तक LIBIDINALECONOMY के पृष्ठ 7 से दिया है।⁴

4. जब मनुष्य जीरो हो जाता है तो वह काल (और जीवन) की अखण्डता को तोड़कर “हिस्ट्री” बनाता है। जीरो के पहले मनुष्य काफिर है और उसके बाद मोमिन है। पहले वह अवगुणी है, बाद में गुणी है। वागीश शुक्ल इसे दोफाड़ कहते हैं। अब्राहम दृष्टि में ऐतिहासिकता है, ब्राह्म दृष्टि में मिथक (जीवन को मुख्य मानकर इतिहास को देखने की दृष्टि) है।

5. ब्राह्म दृष्टि जीवन और काल की अखण्डता को स्वीकार करती है, अतः एव वह सम्बन्धों व सन्दर्भों को स्वीकारती है। वहाँ परिवार है, गाँव है, समुदाय है, देश (प्रान्त) है, भाषा है (विश्वभाषा नहीं), उपासना है (वैश्विक मजहब नहीं), उसके सहित स्वायत्त वह स्वयं है।

वागीश जी यह विमर्श क्यों स्थापित करते हैं, यह प्रश्न है। उत्तर में उनके दो कथन उद्धरणीय हैं— “जनवरी 2023 के उत्तरार्ध में मैंने सनातन धर्म में विवाह की अवधारणा पर सोचना शुरू किया। इस विषय पर बहुत से विद्वानों का लेखन उपलब्ध है किन्तु मेरी दृढ़ आस्था है कि सनातन धर्म को दो ही तरीकों से पहचानने की कोशिश की जा सकती है— एक, अ—पौरुषेय वेद और दो, पौरुषेय लोकव्यवहार से।”¹ वागीश जी वेद के विवाह सूक्त का अनुवाद इसी प्रतिश्रुति के चलते करते हैं। वागीश जी का दूसरा वक्तव्य उनकी एक उलझन है, जिसे वह न्यायदर्शन की शब्दावली में सप्रतियोगी और निष्प्रतियोगी— इन दो शब्दों में व्यक्त करते हैं। आज कोई भी चर्चा की जाएँ तो तुरंत उसकी अन्य के साथ तुलना की जाती है, परन्तु सनातन धर्म निष्प्रतियोगी होने से उसे न तो किसी के समान बताया जा सकता है और न किसी के विपरीत बताया जा सकता है।² वागीश जी “केवल सनातनी विवाह” पर विचार करना चाहते हैं, किन्तु विवशता उनके शब्दों में यह है कि “आधुनिक विमर्श ‘हिन्दू मुस्लिम सिक्ख ईसाई’ को तराजू के पलड़ों पर झुलझुलाने के उद्योग करते रहने से ही बनता है।” वह इसे आधुनिकता का श्मशान—साम्य कहते हैं। वागीश जी का कहना है कि अब्राहमी मजहबों के अनुयोगी कुछ चुने हुए मनुष्य ही हो सकते हैं, जिन्होंने खुदाबन्द से करारनामा (covenant) कर रखा हो। अब यह समझना पड़ेगा कि यह खुदाबन्द कौन है और इससे करार कैसे होता है। इसके सभ्यतागत परिणाम क्या होते हैं और उनसे जीवन कैसे बदलता है। खुदाबन्द एक है और उसके संदेश की प्रामाणिकता उसके लिखित होने में है। वह एक ही पूज्य है और उसकी किताब विधि है। इसमें लोकाचार प्रमाण नहीं है, जो कि सनातन धर्म का प्राण है। वहाँ अन्तिम निर्णायक लोक है। वेद केवल अवधारणा देता है, आचार में प्रमाण लोक है। लोक आचरणों की समीक्षा करके उन्हें मान्य, अमान्य, संशोधित, नवनिर्मित करने का अधिकार रखता है। उसका जीवन किताब से नहीं बाँधा गया है। अतएव, वागीश जी कहते हैं कि सनातन का अनुयोगी चुने हुए लोग न होकर सारा जगत् है और उसका निमायक विसंवादित है। अर्थात् वहाँ कोई एक आचरण अन्तिम रूप में समाज पर थोपा नहीं जाता है। विवाह के आठ प्रकार समाज में देखे गये हैं, किन्तु वे आचरण हैं, अवधारणा नहीं। सनातन धर्म लोकतान्त्रिक दृष्टि देते हुए उन प्रकारों के उचित और अनुचित होने की बात करता है, किन्तु वह बाह्य रूपों

पर नहीं, अपितु आभ्यन्तर रूप (अवधारणा) पर टिकता है। वहाँ विवाह का फल "प्रेम" बताया गया है। यदि जोड़े में विवाह के फलस्वरूप प्रेम विकसित नहीं हुआ तो वह स्वाभाविकतया विवाह नहीं है। पति होने के लिए कन्या की सहमति आवश्यक है जो कि बिना प्रेम के नहीं हो सकती है। बलात्कार करके कोई स्त्री का पति नहीं हो सकता है। यह एक जटिल प्रकरण है, किन्तु इस पर विचार हुआ है। ये दो वाक्य इस बात के समर्थन में दिये हैं कि सनातन धर्म में विवाह की अवधारणा अनुराग पर टिकी हुई है। सन्तान उसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है। सन्तति—उन दोनों का नैरन्तर्य, सनातनता है। प्रजनन प्रयोजन है और वह धर्म में परिगणित होगा। परन्तु, काम स्वयं एक पुरुषार्थ है, जिसका प्रयोजन आनन्द है। काम प्रेम में परिणत होता है। वह उसमें परिणत होना चाहिए, इसलिए नहीं कि काम पाप है, अपितु इसलिए कि प्रेम प्राप्तव्य (मंजिल) है। रति, अनुराग, प्रेम—देह से मन तक अखण्डित हैं। यह यज्ञ है। यहाँ हम वागीश जी का दूसरा उद्धरण लेंगे। उनके अनुसार "ब्राह्म विवाह प्रकृति है और शेष विवाह विधियाँ उसकी विकृति" हैं। वह चार विवाहों—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य के धर्म्य और चार विवाहों—गान्धर्व, आसुर, राक्षस, पैशाच के अधर्म्य होने की बात उठाते हैं। यहाँ वह कामसूत्र को उद्धृत करते हैं। ब्राह्म दृष्टि और आधुनिक दृष्टि में अन्तर को वह इस प्रकार बताते हैं— "विवाह सूक्तों में भी पति—पत्नी में एक—दूसरे के प्रति कामना उत्पन्न करने का यह अनुरोध लगातार मिलता रहता है। हम देख सकते हैं कि 'प्रेम' और 'विवाह' का जो स्वीकृत वर्तमानकालिक क्रम है, वह सनातन—स्वीकृत प्रेम का ठीक उलटा है: आधुनिक क्रम प्रेम को जनक और विवाह को उसका जन्य मानता है, जबकि सनातन क्रम विवाह को जनक और प्रेम को उसका जन्य मानता है। जैसा कि कामसूत्र (कन्यासम्प्रयुक्तक अधिकरण, विवाहयोग प्रकरण) में कहा गया है:

व्यूढानां हि विवाहानामनुरागः फलं यतः।

मध्यमोऽपि हि सद्योगो गान्धर्वस्तेन पूजितः॥

"चूँकि अनुराग प्राप्त करना ही विवाह का उद्देश्य है, इसलिए मध्यम होते हुए भी गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ माना गया है। यहाँ थोड़ा ठहर कर सोचते हैं। यहाँ 'गान्धर्व विवाह' जिसमें प्रेम पहले है और विवाह बाद में, की प्रशंसा करते हुए भी उसे 'मध्यम' क्यों कहा है? इसलिए कि विवाह की

स्वीकृत आठ विधियों के वरीयता—क्रम में गान्धर्व का स्थान पाँचवाँ है और पहले चार ही 'धर्म्य' कहे गये हैं, अर्थात् गान्धर्व विवाह धर्म्य नहीं है।...

वागीश जी की इस समस्त चर्चा का एक निगमन तो इसमें होता है कि जब व्यक्ति अपने सभी सन्दर्भों से कटकर शून्य हो जाता है तो वह कुटुम्बहीनता की स्थिति है। यह स्थिति उनके अनुसार आज की लव-मैरिज में है। एक स्त्री या एक पुरुष, कुटुम्बहीनता में चला जाता है। दूसरा निगमन इसमें होता है कि अनुराग विवाह का प्राप्त्य है। अर्थात् अनुराग या प्रेम जो साहचर्य से विकसित होता है, वह विवाह के बाद विकसनीय होता है। वह पूर्वसिद्ध नहीं है। अतएव, विवाह करने वाले युगल को इसका उत्तरदायित्व निभाना चाहिए और विवाह की सफलता के लिए तपस्या करनी चाहिए। यह हो जाता है तो कुटुम्ब या समाज, उन प्रचण्ड झंझावातों से बचेगा, जो उसकी झोंपड़ी की नींव को हिममिला देता है। आहोपुरुषिका की यह महत्तम सिद्धि है कि वह इस ओर ध्यानाकर्षण ही नहीं करती, अपितु उन्मुख करती है। आहोपुरुषिका का केवल यह एक "सम्बोधन" उसकी रचना के प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ है। आज कुटुम्ब/समाज टूट रहा है कि परस्पर की सहिष्णुता नहीं है और साहचर्य से प्रेम के होने की दृष्टि खो चुकी है। विवाह क्या है? अब्राह्म दृष्टि उसे काम की बुराई को लिए एक अनिवार्य बुराई कहेगी, ब्राह्म दृष्टि उसे प्रेम रूपी "अपूर्व" की प्राप्ति का यज्ञ कहेगी। रति ही प्रेम है। वह रति जब स्त्री व पुरुष में हो तो वह विवाह है। इसी से वह एक—दूसरे को वहन कर सकते हैं, सम्हाल सकते हैं, अन्यथा नहीं। दम्, घर है। दोनों का एकात्म्य यह है कि दोनों के पास घर का पतित्व है, उत्तरदायित्व है। वे दोनों एक होकर दम्पती हैं।^१ विवाह करार पर आश्रित शादी नहीं है। यह करार स्त्री व पुरुष को समान नहीं मानता है। जबकि, विवाह परिवार की नींव है। अथवा तो यों कहें कि विवाह में परिवार मुख्य है। शादी या मैरिज में पुरुष की मुख्यता है, क्योंकि वह तलाक दे सकता है। भारतीय संविधान ने इस मजहबी दृष्टि को भारत के लिए अस्वीकार कर दिया है। विवाह में पुरुष और स्त्री दोनों गौण हैं। वे दोनों बहुव्रीहि समास बनाते हैं, जिसमें प्रधान अन्य है। और वह अन्य है परिवार। यह ब्राह्म दृष्टि की विवाह की अवधारणा है। निस्सन्देह, इसका आचरण इसके समाज में ठीक वैसा नहीं हुआ। आचरण—आधारित विश्ववाद नहीं होने से इस अवधारणा पर विवाह के विविध आचरण ब्राह्म सभ्यता में

देखे जा सकते हैं।¹⁰ भारतीय सनातन संस्कृति में विवाह की अवधारणा व उसके प्रचलित आठ प्रकारों पर आहोपुरुषिका विचार करती है।

वागीश जी की विवाह—मीमांसा पर दो बातें कहनी हैं। एक, कोई संशय नहीं है कि गान्धर्व विवाह के धर्म्य न होने का एक मत तो है, किन्तु यह सामान्य (कॉमन) मत नहीं है। दूसरी, ब्राह्म—गान्धर्वादि वरण करने की दृष्टियाँ हैं, जिनको पहचान कर विवाहों का नामकरण किया गया है। इन सब विवाहों की अग्निसाक्षित्वादिरूप पद्धति तो सामान्य ही है। लव—मैरिज गान्धर्व के जैसा है, किन्तु वह ठीक वही नहीं है। गान्धर्व विधि से वरण के बाद, अग्निसाक्षित्व में विवाह होता है और कोई अन्य अभिभावक बनकर कन्या का दान करता है, यदि वरणोत्तर भी कुटुम्ब की सहमति नहीं मिल पाती है। धर्म्यत्व दो तत्त्वों पर आश्रित प्रतीत हुआ— कन्या का दान और अनुराग। वस्तुतः, ये दोनों परस्पराश्रित हैं। पुनर्विचार करना चाहिए कि गान्धर्व की अधर्म्यता क्या यह है कि उसमें अनुराग बीज के रूप में है। आचार्य वागीश शुक्ल जिन्हें प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं, उन कामसूत्रकार वात्स्यायन के मत का विचार करणीय है। कामसूत्र पहली बात यह कहता है कि विवाह के लिए दौड़भाग ('प्रयत्न') लड़के के पक्ष को करना पड़ता है, कन्या को नहीं— तस्या वरणे मातापितरौ संबन्धिनश्च प्रयतेरन्। वरण और विवाह—ये दो कर्म हैं। वरण विवाह की आरम्भिकी है और विवाह उसकी पूर्णता है। वरण होने के बाद विवाह किस पद्धति से करें तो यहाँ उत्तर मिलता है कि जिस देश (स्थान) पर जो प्रवृत्ति हो, उसके अनुकूल रीति से विवाह करे— देशप्रवृत्तिसात्म्याद् वा ब्राह्मप्राजापत्यार्षदैवा— नामन्यतमेन विवाहेन शास्त्रतः परिणयेत्। इति वरणविधानम्। यहाँ विचार करेंगे तो स्पष्ट होगा कि शास्त्रकार वात्स्यायन देश प्रवृत्ति पर जोर दे रहे हैं। इसकी जयधर की यशोमङ्गला टीका है— देशप्रवृत्तिसात्म्याद् वेति। यस्मिन् देशे या प्रवृत्तिस्तदानुकूल्यादित्यर्थः। जिस देश में जो प्रवृत्ति हो, उसकी अनुकूलता में विवाह करने की बात है। एक सार्वभौम विश्ववाद यहाँ नहीं है। कन्या का अनुराग (जिसे आधुनिक शब्दावली में एक अपूर्ण पर्याय सहमति से कहा जाता है।) इतना महत्वपूर्ण है कि टीकाकार कहते हैं कि विवाह से जो कन्या अधिगत हो गयी है, वह भी जब तक विश्वास में नहीं ली जाए, तब तक मैथुन होने के लिए नहीं है—“एवमधिगतायाप्यविश्वासिता न प्रयोगार्हेति कन्याविसम्भणमुच्यते। तत्र विवाहान्तरं मङ्गलाचारमाह—

संगतयोस्त्रिरात्रमधः शय्या ब्रह्मचर्यं क्षारलवणवर्जमाहारस्तथा सप्ताहं सतूर्यमङ्गलस्नानं प्रसाधनं सहभोजनं च प्रेक्षा सम्बन्धिनां च पूजनम्। इति सार्ववार्णिकम्।।” विवाह के बाद का मांगलिक आचार बताया गया है, जिसमें अवधारणा अनुस्यूत है। यहाँ बाभ्रवीय कामशास्त्र के अध्येता शंका करते हैं कि नायक को प्रथम तीन रात्रियों में निश्चेष्ट देख कन्या उसे नपुंसक व गँवार न मान लें। वात्स्यायन इन दोनों का मध्यमार्ग बताते हैं—उपक्रमेत विस्रम्भयेच्च, न तु ब्रह्मचर्यमतिवर्तेत। इति वात्स्यायनः। अर्थात् प्रेम प्रदर्शन करे, विश्वास में ले, किन्तु ब्रह्मचर्य को लांघे नहीं। विश्वास में लेने की लम्बी प्रक्रिया बताते हैं, जिसका अन्तःतत्त्व यह है कि स्त्री का अपना मन है और उसे साधे बिना उसके साथ कामचर्या धर्म नहीं है।

फलतः, कन्या का हितविचार और मनोभिलाष— ये दो पूर्ववर्ती चार धर्म विवाहों में मुख्य है, यह उनके विवेचन की अन्तर्ध्वनि” है। कन्या की सहमति इन चारों विवाहों में अवश्य रहती है। इन चारों में कन्या का दान होता है। किन्तु, चारों में दान का तरतम भाव होने से ये चार हैं। भाव के कारण ब्राह्म, प्राजापत्य आदि नामों में भाव कारण है, पद्धति तो समस्त विवाहों में समान है अथवा तो वह (देशाचार—लोकाचार होने से) गौण है। इन विवाहों की प्रायः नाममात्र चर्चा अधिकतर स्मृतिकार करते हैं, जिससे इनके स्वरूप पर प्रकाश नहीं पड़ता। कामसूत्र और गौतमस्मृति—ये दो ग्रन्थ इनके स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। जो ब्राह्मणों के लिए हैं, उनका अनुवर्तन ब्राह्मणेतर कर सकते हैं। इसमें उत्कर्ष है। ब्राह्मणों के लिए मान्य किये इन चार विवाहों में भी दैव सबसे नीच है, क्योंकि इसमें यज्ञ की दक्षिणा के रूप में कन्या दी जाती है। यज्ञ में ऋत्विक् को दी जाए तो वह दैव है। निर्धनप्राय ब्राह्मण यजमान और ब्राह्मण ऋत्विक् से जुड़ा यह अल्पविषय विवाह है। इससे श्रेष्ठ आर्ष है, जिसमें अत्यल्प (गोद्वय) लिया जाता है। इसमें वह धनलोभ नहीं है, जो आसुर विवाह में है। आजीविका हेतु गोद्वय लेने का अनुमान है। यह उस प्राजापत्य से अधम है, जिसमें सहधर्माचरण की शर्त पर कन्या दी जाती है। प्राजापत्य में दान के साथ एक शर्त लगी रहती है कि दोनों साथ—साथ धर्म का आचरण करेंगे। इसका क्या अर्थ है, सहसा कथन ठीक नहीं है, किन्तु यह गवेषणा का विषय है। इसमें पुत्रिकापुत्र प्राप्त करने या अन्य कोई विषय समाहित प्रतीत होता है।¹² इसका प्राजापत्य नाम इस अनुमान में हेतु है। ये तीनों विहित नहीं हैं, किन्तु विवशता में इनकी अनुमति ब्राह्मण को है। ब्राह्मण के लिए विहित विवाह

ब्राह्म है। ब्राह्म में विद्या, चारित्र, बन्धुजन व शील से सम्पन्न "अर्थी" को कन्या दी जाती है—

1. श्रुतशीले विज्ञाय ब्रह्मचारिणेऽर्थिने दीयते स ब्राह्मः। (बौधायनस्मृति, एकादश अध्याय, प्रथम प्रश्न)
2. ब्राह्मो विद्याचारित्रबन्धुशीलसम्पन्नाय दद्यात्। (गौतमस्मृति)

कन्या उसे दी जानी है, जो उसकी अभ्यर्थना करें। अनुराग विवाह का हृदय होने से जो स्वतः अभ्यर्थी नहीं है, वह कन्यादान का पात्र नहीं है। यह विवाह का अनिवार्य तत्त्व है। जो स्वतः चाहते हैं, उनमें से चयन (वरण) किया जाना है। वरण की चार कसौटी गौतम स्मृति बताती है— पहली, उसने विद्याध्ययन किया हो। दूसरी, उसका चाल-चलन, चारित्र, अच्छा हो। तीसरी, वह बन्धुजनों से युक्त होकर समर्थ हो। चौथी, उसका शील अच्छा हो। चारित्र बाह्याचरण है और शील आभ्यन्तर गुण हैं। बौधायन केवल दो ही कसौटी बताते हैं कि उस अर्थी के ज्ञान और शील को परख लें। केवल ज्ञान को कसौटी किसी ने नहीं माना है। इस, (ब्राह्म विवाह) में दाता का कोई हित (स्वार्थ) नहीं रहता है। कन्या का हित सर्वोच्च होने से यह अवधारणा के अनुरूप है, अतः यह विवाह की आदर्श कोटि है। प्राजापत्य, आर्ष, दैव में यद्यपि इन कसौटियों की अवहेलना नहीं होती है, किन्तु दाता का हित (स्वार्थ) उनमें समाहित है। चूँकि, जीवन मुख्य है, अतः समग्र विचार में कुटुम्ब केन्द्र में होने से इन्हें धर्म्य अवश्य माना है, किन्तु इन चारों में अन्तिम से पूर्व-पूर्व श्रेयस्कर है—तेषां चत्वारः पूर्वं ब्राह्मणस्य। तेष्वपि पूर्वः पूर्वः श्रेयान्। (बौधायनस्मृति)

आसुर व पैशाच विवाह में कन्या के मनोभिलाष व हित—दोनों की उपेक्षा होती है—वित्तेनानतिस्त्रीमताम् आसुरः। यहाँ सम्बन्ध का निर्धारक वित्त है, जो कन्या के कुटुम्ब द्वारा लिया जाता है। यह प्रायः कन्या से हीन पुरुषों के साथ विवाह में घटित होता है। यहाँ देने का नहीं, लेने का भाव है। तथापि, इसमें भी औपचारिक रूप से कन्यादान, अग्निसाक्षित्व सम्पादित किया जाता है। अतएव आहोपुरुषिका का कथन "स्मृति-ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि जो चार विवाह धर्म्य नहीं हैं, उनमें विवाहोत्तर ही सही, धर्म्यता की आमद के लिए आदेश है, अग्नि का साक्ष्य और दोनों कुटुम्बों की सहमति प्राप्त करने का निर्देश है।"¹³ कहना चिन्त्य है। आसुर विवाह में किसी दासी या पड़ोसिन को माध्यम बनाकर कन्या को बहलाया जाता है

और माता—पिता या उसके भाई को धनादि से अपने पक्ष में ले लिया जाता है। पैशाच विवाह में दासी या पड़ोसिन कोई मदनीय (नशीला पेय) उसे पिलाकर नायक के पास ले जाती है और वह उसे दूषित करता है। यह एक छल होता है और छल से उसे व उसके कुटुम्ब को कन्या को देने के लिए सहमत किया जाता है। बाहरी तौर पर तो इसमें भी अग्निसाक्षित्व व कन्यादान किया जाता है, किन्तु ये दोनों ही बाह्य अनुष्ठान ही रह जाते हैं, अन्तस्तत्त्व नहीं बनते हैं। कन्यादान में दो शब्द हैं, एक नहीं। यह श्लेष है—कन्या के दान और कन्या के आदान का। कन्यादान का कर्मकाण्ड इस श्लेष को मानने में प्रमाण बनता है। कन्यादान (कन्या का दान और कन्या का आदान) दो कुटुम्बों के बीच होता है, जबकि अग्निसाक्षित्व जोड़े के बीच की क्रिया है। जिज्ञासु इस विषय को कर्मकाण्ड की सूक्ष्मता से देखेंगे तो इस पर प्रकाश पड़ेगा।

बगीचे या उद्यान में जाती हुई उसे जानकर बलपूर्वक ले जाना, राक्षस विवाह है। यह तो जबर्दस्ती विवाह है और ताकत के आधार पर है, इसलिए इस विवाह को करने वाले को अग्निसाक्षिकता आदि की वैधानिकता प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। कारण स्पष्ट है कि इसमें एक पक्ष की असहमति को पूरा समाज असंदिग्ध रूप से जानता है। आसुर और पैशाच विवाह को भी समाज में अग्निसाक्षिकता (युगल की परस्पर सहमति) और कन्यादान (कुटुम्बों की परस्पर सहमति) से वैध दिखाया जाता है, अतः इन्हें स्वभावतः अधर्म्य (अवैध) माना है, बाहरी तौर पर अवश्य उसे धर्म्य के रूप में दिखा दिया गया हो या देखा गया हो।

गान्धर्व का लक्षण गौतमस्मृति इस तरह करती है— इच्छन्त्या स्वयं संयोगो गान्धर्वः। यहाँ कन्या की इच्छा होती है, अतः इसे एक मत धर्म्य मानता है। यहाँ कुटुम्ब गौण है, कन्या मुख्य है। चार विवाहों में कन्या की सहमति ली जाती है और निर्णय कुटुम्ब करता है, किन्तु गान्धर्व में निर्णय कन्या करती है और कुटुम्ब की सहमति सम्पादित की जाती है। बौधायन, स्मृति में काम (अभिलाष) को इसका लक्षण बनाया गया है—सकामेन सकामाया मिथः संयोगो गान्धर्वः। स्पष्ट है कि इसमें कन्या के मन को महत्त्व दिया जाता है। अतएव, बौधायन स्मृति भी कहती है—गान्धर्वमप्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात्। प्रशस्त और अप्रशस्त की सारी चर्चा केवल ब्राह्मण के सन्दर्भ में है। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों में तो गान्धर्व प्रशस्त है ही।

इस चर्चा की पृष्ठभूमि में वात्स्यायन के गान्धर्व पर कहे वचन को देखना चाहिए। वात्स्यायन गान्धर्व के बारे में दो मतों को उद्धृत करते हैं और उसके बाद, वह निष्कर्षतः, गान्धर्व को धर्म्य मानते हैं कि हो चुके सभी विवाहों का, चाहें वे किसी मनोभाव से हुए हों, फल तो अनुराग है, अतः गान्धर्व आदरणीय है। विवाह की कसौटी स्त्री का अनुराग है। वह इसमें विद्यमान है, इस अर्थ में कहा गया है—

व्यूढानां हि विवाहानामनुरागः फलं यतः।

मध्यमोऽपि हि सद्योगो गान्धर्वस्तेन पूजितः॥

वात्स्यायन भी इसकी प्रशंसा इस तरह करते हैं कि सरलता से होने, बहुत झंझट (यत्नसाध्य) न होने और वरणविधि न होने से यह सबसे उत्तम है—

सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह।

अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः॥

वस्तुतः, टीकाकार इन उपर्युक्त दोनों श्लोकों की व्याख्या “गान्धर्व एव प्रधानम्” की भूमिका रखने के बाद करते हैं। फलतः, वात्स्यायन के “व्यूढानां हि विवाहानामनुरागः फलम्” का अर्थ विवाह के पूर्व अनुराग को अनुचित बतलाने में घटित करना ठीक नहीं है। तथापि, आहोपुरुषिका में जो विमर्श प्रतिष्ठित हुआ है, वह हमारी अविचारित दौड़ से भरी जिन्दगी को इस ओर ध्यान दिलाती है कि अनुराग नहीं है तो विवाह नहीं है। विवाह की वैधता का एकमात्र निकष अनुराग का होना है। विवाह का निकष अनुराग को बनाने पर उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। वह जन्म-जन्मान्तरों का सम्बन्ध बन जाता है। यहाँ तक कि पति की मृत्यु के बाद स्त्री विधवा हो जाती है और पत्नी की मृत्यु के बाद पति विधुर हो जाता है, किन्तु वैधव्य और वैधुर्य में भी दाम्पत्य तो बना रहता है।

एक अन्य प्रश्न है: काम के स्वरूप का। काम स्वरूपतः पाप है या धर्म है? कालिदास की कविता में काम और शृंगार की आलोचना भर्त्सना के स्तर पर हुई है तो वह आधुनिक काल में। चाहें, वह महावीर प्रसाद द्विवेदी हों या रामविलास शर्मा, कालिदास को कठघरे में खड़ा करने से नहीं चुके हैं। क्योंकि, काम में आनन्दानुभूति को धर्म कहें या पाप, यह उनके सामने प्रश्न है। इस प्रश्न की अवधि विवाहित युगल है तो भी ईसाई अवधारणा में काम में आनन्द स्वीकार्य नहीं है। रेबेका डेनोवा अपने लेख *The Christian*

Concept of Human Sexuality as Sin¹⁴ में तीन महत्त्वपूर्ण बातें बताती हैं कि ईसाइयत यह मानती है कि यीशु मसीह के पास कभी मानव शरीर नहीं था, वह केवल हमें सिखाने के लिए मानव रूप में प्रकट हुए थे। दो, काम एक आवश्यक बुराई है, जिसे मिशनरी भाव से किया जाना है, उसमें आनन्द लेना पाप है। तीन, ईसायत मरियम को शाश्वत कुँवारी के रूप में चर्चित करती है। इस लेख को पढ़ने पर पहली प्रतिक्रिया मेरे मन में यह जन्मी है कि क्या ईसवीं शताब्दियों तथा उसके पहले लिखे गये भारतीय लेखनों में इस दृष्टि से कोई अन्तर देखा जा सकता है ? निश्चय, जीवन (और साहित्य) में तो ईसाई भावना से उतनी संगति नहीं हुई, किन्तु ईसवीं शताब्दियों में लिखी गयी स्मृतियों व पुराणों की पड़ताल इस दृष्टि से अवश्य की जानी चाहिए। मरियम को शाश्वत कुँवारी दिखाने और यीशु मसीह के मानव देह न होने के प्रतिपादन के पीछे काम को प्रजनन के लिए स्वीकृत आवश्यक बुराई मानना है। यहाँ काम धर्म के एक अंग के रूप में अवश्य स्वीकृत है, किन्तु स्वतन्त्र पुरुषार्थ के रूप में नहीं। सनातन में काम सहज है, स्वाभाविक है—

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः ।

चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ।।

(श्रीमद्भागवत, सर्ग-3, श्लोक-6)

भारतीय दार्शनिक आचार्य वल्लभ अपनी सुबोधिनी टीका में कौमार का व्याख्यान करते हैं—“कौमारं सनत्कुमाररूपम्। स्त्रीभिः जलरूपैः बीजैः वृद्धे यौवनं भवति, तदभावात् तेषु सर्वदा कौमारमेव, कुत्सितो मारो यस्माद् इति।” जिसका काम कुत्सित है, वह कुमार है। ब्रह्मचर्य को दुश्चर और अखण्डित कहने का व्याख्यान है— दुश्चरम् इति लोके अस्य चरणम् अप्रसिद्धम्। अखण्डितं यथा भवति तथा, अस्य हि प्रतिक्षणं नाशसम्भवः। लोक में जिसका आचरण करना अप्रसिद्ध है, सिद्ध नहीं होता है, वह दुश्चर है। ब्रह्मचर्य की दूसरी विशेषता वह बताते हैं कि उसके प्रतिक्षण नाश की सम्भावना है। वल्लभाचार्य निर्द्वंद्व है कि जीव के लिए ब्रह्मचर्य सम्भव नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियवान् है। जिस तरह भूख की आग पैदा होने पर नहीं सही जा सकती है, उसी तरह बीजाधार कामाग्नि भी असह्य है— नहि जीवस्य ब्रह्मचर्यं सम्भवति, इन्द्रियवत्त्वात्। यथा हि क्षुदग्निः आविर्भूतः सोढुम् अशक्यः, एवं बीजाधारकामाग्निरपि।” सनत्कुमार जीव नहीं हैं, ब्रह्म के आवेशावतार हैं। यहाँ काम आवश्यक बुराई नहीं, अपितु भूख की तरह मनुष्य

की सहज आवश्यकता के रूप में स्वीकारा गया है। वह स्वाभाविक है, त्याज्य नहीं। यही नहीं, अपितु भारतीय चिन्तक यहाँ पर कु-मार और सु-मार का विवेक दे जाते हैं।¹⁵

वागीश जी यह दिखलाते हैं कि जीवन की समग्रता में काम अपने स्वरूप में भी धर्म है, पाप नहीं। काम विवाह में माध्यम बनता है। स्त्री व पुरुष की रति, विवाह में परिणत होकर सृष्टि को बनाती है। काम को हेय मानने की मनोवृत्ति सनातन दृष्टि के प्रतिकूल है। वागीश जी का मत है—“अब्राहमी संकल्पना में यौनाकर्षण एक पापीयसी वृत्ति है जिसके उदय में पुरुष का कोई दोष नहीं है और जिसके लिए स्त्री ही सर्वथा उत्तरदायी है। उत्साही आधुनिक निश्चय ही “नारी नरक का द्वार है” जैसे सन्त-वचनों को का यहाँ स्मरण करके यह सिद्ध करना चाहेंगे कि ‘हिन्दू’ भी ऐसा ही सोचते हैं किन्तु उन्हें यह जानना चाहिए कि ‘नारी-निन्दा’ का सारा भारतीय साहित्य केवल पुरुष के स्वैराचार को धर्म-नियन्त्रित रखने की चेतावनी है, और उसमें स्त्री-त्व की कोई विचारणा नहीं है। अस्तु, प्रश्न यह है कि फिर अब्राहमी विवाह क्या है ? यह पूर्णतया एक पुरुष का उद्यम है जिसकी पहल भी उसी के अधीन है और खात्मा भी उसी के अधीन।....यह पुरुष की कामेच्छा — तुष्टि की वैध घेराबन्दी मात्र है। यही ‘पहले प्रेम, फिर विवाह’ के सिद्धान्त का मूल है—ले दे कर अब्राहमी विवाह परिवार-निर्मिति का एकमात्र अदण्डनीय उपाय है जिसको अपनाते हुए मनुष्य खुदावन्द के सामने मुँह दिखाने लायक रह सकता है। इसमें स्त्री की यौनिकता का कोई महत्त्व नहीं है। अब्राहमी रतिकर्म की संकल्पना को हम परवीन शाकिर के इस शेर में समेट सकते हैं:

“सुब्ह मेरे जोड़े की हर कली सलामत थी
गूँजता था खुशबू में, रात भर का सन्नाटा।।”¹⁶

वागीश जी का अभिमत है कि “इस रात-भर के सन्नाटे के बर-अक्स, सनातन विवाह में परस्पर चाहत एक देवप्रसाद में आस्वाद की आवक के लिए गयी प्रार्थना का परिणाम है।”¹⁷ यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्म दृष्टि में विवाह पुरुष के अधीन नहीं है। वह वहाँ याचक, अभ्यर्थी है। उसकी योग्यता को आँका-परखा जाता है तथा विवाह के बाद भी वह स्त्री को प्रेम करने के लिए धर्मतः निर्दिष्ट है। जबकि अब्राहम दृष्टि में विवाह के पुरुष के अधीन होने से स्त्री के मन का कोई महत्त्व नहीं है। अतएव, वह स्त्री

को तलाक दे सकता है। ये दोनों पृथक् हैं और पृथक् हो सकते हैं। सनातन दृष्टि में स्त्री व पुरुष विवाह से पहले दो हैं, किन्तु विवाह के पश्चात् दो नहीं हैं, एक हैं। इन्हें पृथक् करने का विचार ही दूषित है। वागीश जी एक लंबी बहस चलाते हुए बताते हैं कि सनातन दृष्टि में भोग्य व भोक्ता स्थिर नहीं है, अपितु गत्यात्मक हैं। काम में स्त्री व पुरुष क्रमशः भोग्या व भोक्ता नहीं होते हैं, अपितु दोनों क्रमशः भोग्याभिमानिनी और भोक्तृ—अभिमानि होते हैं। परस्परानुराग से दोनों को समान सुख होता है, क्योंकि अभिमान मुख्य है, उसकी संज्ञा गौण है। व्याकरण का प्रामाण्य लेते हुए वह स्थापित करते हैं कि काम—क्रिया में पुरुष कर्ता अवश्य है, किन्तु फलस्वामिनी स्त्री है। स्त्री “काम” में भी पुरुष की दासी नहीं है। उसका भोग्या कहा जाना, उसकी गौणता नहीं है—“कामसूत्र में कहा गया है कि स्त्री को भोग्या होने का अभिमान होता है और पुरुष को भोक्ता होने का। किन्तु अभिमान एक ही है—अहम् का ईक्षण।...जब हम कहते हैं कि हंस मोती चुगता है तो उसका तात्पर्य एक ही देव हंसाभिमानि होकर भोक्ता है और मौक्तिकाभिमानि होकर भोग्य—इनमें चोलाबदल होता रहता है जैसे एक ही पात्र नाटक की प्रस्तुति में राजा बन सकता है तो दूसरी प्रस्तुति में मन्त्री— उसका अभिमान अभिनेता होने का है, राजा या मन्त्री होने का नहीं”¹⁸ यहाँ स्त्री व पुरुष अपने अभिमान में अपना अपना अस्तित्व रखते हैं, किसी की अस्मिता खोती नहीं है, अपितु अहमस्मि के ऐक्य तक पहुँचते हैं। स्त्री व पुरुष दोनों के एक होने के प्रतिपादन और किसी एक के प्रधान व अन्य के अप्रधान न होने की जो अवधारणा वागीश जी सामने रखते हैं, वह महत्त्वपूर्ण है। यह जानना भी महत्त्वपूर्ण होगा कि भाषा में लिंग शब्दों के होते हैं, उनके अर्थों के नहीं। पत्नी के वाचक पुल्लिंग शब्द भी हैं और उन शब्दों के साथ भोक्ता विशेषण आएगा।

यहाँ हमें पुनः स्मरण करना चाहिए कि वागीश जी सनातन को अवधारणा बताते हैं, अतएव यह नित्य वर्धमान जीवन है। अतीत के आचरण इसमें प्रमाण नहीं होते हैं और न अतीत की किताबें इसका नियमन कर सकती हैं। सनातन का विमर्श सदैव जीवन (जीवन शब्द स्वयमेव आगे बढ़ने, वर्धमानता, भविष्योन्मुख वर्तमान का अर्थ देता है) है। यहाँ कुछ भी अतीत या अनागत के लिए नहीं होता है। समस्त विचार आत्मा (स्वयं) के लिए है। अतएव, वर्तमान (जीने के) लिए योग्य पर दृष्टि को टिकाया जाता है। जो सनातन को अतीत के दृष्टान्तों पर समझते हैं, वे चुक करते हैं।

वागीश जी बहुश्रुत विद्वान् हैं। वह वेद, तन्त्र, नाट्य, व्याकरण आदि की अवधारणाओं को एक साथ उपस्थित करके चर्चा करते हैं, जो दुर्बोध हो जाती है। माया-ब्रह्म, आनन्दभैरवी-आनन्दभैरव इत्यादि का विस्तार से विश्लेषण अध्येताओं के लिए सुखद होगा। सम्प्रदाय को वागीश शुक्ल अच्छी इस तरह समझाते हैं कि किसी अवधारणा को अलग-अलग शब्दावली में समझाया जाता है तो वे उस अवधारणा के सम्प्रदाय होते हैं। सम्प्रदायों में शिक्षण-विधियों का अन्तर होता है, सम्प्रेषणीय वस्तु का नहीं। तन्त्र (आगम) व वेद (निगम) के बीच भेद को वह इस तरह बताते हैं कि जगत् को कार्य व ब्रह्म को कारण बताते हुए जब तत्त्वबोध करवाया जाता है तो वह ब्रह्मकारणतावाद होता है। इसमें ब्रह्म की प्रधानता व माया की गौणता लगती है। किन्तु, यही तत्त्वबोध जब आनन्दभैरव-आनन्दभैरवी की शब्दावली में करवाया जाता है तो वह मायाकारणवाद हो जाता है। एक ही तत्त्वबोध तक जाने के ये दो मार्ग हैं। हमें पुनः पुनः याद करना चाहिए कि यह बात दाम्पत्य के सन्दर्भ में स्त्री के गौण न होने के प्रतिपादन में है। वागीश जी कहते हैं कि इसे आधुनिक दृष्टि तन्त्र और वेद के भेद के रूप में देखती है। इस द्वैत से हम मुक्ति पा सकते हैं तो हम पुरुष और उसकी आहोपुरुषिका के द्वैत से भी मुक्त हो सकते हैं। यह आहोपुरुषिका शीर्षक सौन्दर्यलहरी के एक श्लोक से लिया गया है, जिसमें देवी कौन है, यह समझाते हुए कहा है कि शिव को जो 'मैं पुरुष हूँ' यह आत्माभिमान होता है, वही देवी है। दाम्पत्य की सनातन अवधारणा में पुरुष और स्त्री के मध्य ऐक्य है, पार्थक्य नहीं। भाषा के तत्त्व को नहीं जानते हुए किसी को प्रधान या अप्रधान मानना सनातन-अवधारणा के विरुद्ध है। वह जीने के लिए, जीवन के लिए अप्रमाण है।

मननशील, मनीषी का मौन कभी इस तरह टूटता है कि वह "बहुत कुछ" कहना चाहता है और उस बहुत कुछ को वह आगे के लिए रख नहीं पाता है। परिणाम यह होता है कि वह चर्चा न होकर संचर्चा, वाद न होकर संवाद, कृति न होकर संकृति बन जाती है। आहोपुरुषिका एक चर्चा होते हुए भी संचर्चा-अनके चर्चाओं का मेल है। वागीश जी एक महत्त्वपूर्ण बात उठाते हैं कि सनातन का स्वीकार उसकी समग्रता में करेंगे तो असंगति नहीं होगी। जो सनातन को समग्रता में स्वीकारता है, वह प्राचीन काल में यज्ञों में पशुबलि को स्वीकारते हुए भी, वर्तमान में उसका निषेध कर लेता है। वह

संगत हो जाता है, यही उसकी सनातनता है। इसे आप अकादमिक और जीवन—दोनों प्रति ईमानदारी कह सकते हैं। “अघासु हन्यन्ते गावः” का अनुवाद वेदार्थ का सही अनुवाद वागीश जी करते हैं, क्योंकि प्रकरण विवाह का है और उसमें क्रमशः मघा, पूर्वा—उत्तर फाल्गुनियों में विवाह का कार्य होता है। पूर्व मन्त्र में रथ का उल्लेख है और नववधू के जाने का। इसके बाद ऋषि बताता है कि कन्या को पिता के द्वारा दिया गया भाग “वहतु” पहले ही मघा नक्षत्र में उसके पति के घर भिजवा दिया था। अतः, यह अनुवाद उचित है। इस तरह अनुवाद में अनेक चर्चाएँ आयीं, जो विभिन्न स्थानों पर उठायी जाती रही हैं। ये चर्चाएँ बहुमूल्य हैं। वागीश शुक्ल काव्य, काव्यानुवाद और विमर्श से समाज को देखने व समझाल लेने की ओर जो ध्यानाकर्षण करते हैं, वह अपने आपमें बहुमूल्य है और यह भी कहना चाहिए कि इस संश्लिष्ट व जटिल विषय को—इतना ही सही, जितना हो सका, विश्लिष्ट करना और सुलझाना उनके जैसे बहु—आयामी विद्वान्—कवि के ही वश में होता है।

कविता और अनुवाद—आहोपुरुषिका के विमर्श के प्रान्तर, तटान्त या किनारे नहीं हैं, अपितु हृदय हैं। आहोपुरुषिका 44 काव्यबन्धों का एक प्रबन्धात्मक खण्डकाव्य है। यह शोकगीत नहीं है। यह दाम्पत्य के होने, उसकी अनुभूति का गीत है। स्त्री व पुरुष के समन्वित हो जाने की कविता है। वैधुर्य या शोक निमित्त हो सकता है, किन्तु, वह कविता का उपादान नहीं है। उपादान तो प्रेम है। काव्य का शीर्षक इस काव्य के सम्बोधन पर रखा गया है, जो बिना प्रेम नहीं उपज सकता। कवि एक तरह से यह कहता है अपनी दिवंगत पत्नी से कि मेरे लिए तुम कौन हो, तुम वही हो, जो मेरे भीतर “मैं हूँ” के रूप में जागता है। अतएव, वह है तो अवश्य, किन्तु दृश्यता की सीमा में नहीं। भारतीय मन कभी अपने किसी के सर्वथा न होने—को स्वीकारता ही नहीं। तभी तो कवि उसका एहसास विभिन्न जगहों, रूपों और क्षणों में पाता है। यह काव्य उन एहसासों का काव्य है—

आहोपुरुषिके !

सुराग मुझे मिले

मिलते गये मुझे सुराग । ।

इठलाती लताओं में तुम्हारे विभ्रमों की छवि थी

नदियाँ की लहरों में तुम्हारी भाँहों का बाँकपन ।

राजहंस तुम्हारी चाल अपनाने के उद्यम में लगे थे
 और शालभंजकाएँ तुम्हारा ठाट ।
 विद्रुम ने तुम्हारे ओठों का रंग पकड़ लिया था
 और शंख ने तुम्हारी ग्रीवा का ढंग ।
 इन सबने मुझे कहा
 यहीं कहीं.... ।

एहसास कविता बनता है और इसको सुघड़ता देने के लिए न जाने कितने पूर्वज काव्य और शास्त्र इसमें आ जाते हैं कि कविता और शास्त्र एक-दूसरे में भासते हैं। इस काव्य में व्युत्पत्ति की व्यापकता का सहज अनुमान पाठक करेगा। साथ ही वह यह भी जानेगा कि इस कविता में शास्त्र और काव्य का संगमन तिल-तुण्डलवत् हैं तो कहीं कहीं वह नीर-क्षीरवत् है। अग्नि को न पहचानने वाला, न चुनने वाला नचिकेता है, अतः उसे यमराज ने अग्निचयन का उपदेश दिया है, यह व्युत्पत्ति इस काव्य के पाठक को सहज हो जाएगी। फारसी के काव्यों, वेद, तन्त्र इत्यादि काव्य में संगत हुए हैं। जब हम संगत होना कहते हैं तो पार्थक्य के तिल-तण्डुल की तरह स्पष्ट दिखने के बावजूद उसमें रस की धारा की निश्चतता तो है। सब कुछ काव्य बन जाता है। चूँकि, काव्य आहोपुरुषिका का हृदय है और काव्यानुवाद उसकी प्रज्ञा है, अतएव सभ्यता-विमर्श उसका परिशिष्ट ही है। इन दोनों को जानने की पूर्वपीठिका भी है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के पचासीवें सूक्त (विवाह सूक्त) का अनुवाद अपने वाद के अनुरूप है। ऋषि की कविता अनुवाद में आ सकी है। अनुवादक के रूप में वागीश जी ने पूरी सावधानी बरती है कि तद्युगीन भावधारा एतद्युगीन बुद्धि से आवृत न हो जाए। आहोपुरुषिका के हृदय व प्रज्ञा के साथ संवाद की पड़ताल का काम-इस संकेत के पश्चात् सहृदयों पर छोड़ते हैं, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह अनुवाद वेद के ऋषि-कवि के हृदय को पढ़ने का अवसर देता है और उसके साथ जो प्रज्ञा है, उससे वंचित भी नहीं करता है। यह अनुवाद की बड़ी सफलता है। वेद की प्रज्ञा और हृदय-दोनों आत्मसात् हो सकें, यह दुर्लभ होता है, किन्तु वागीश शुक्ल जी ने उस दिशा में एक प्रयत्न किया है।

173, शास्त्रीनगर, साँचौर
 जिला- जालोर, राजस्थान- 343041



आज़ादी का
अमृत महोत्सव

ISSN 0974 0053